العسل
احلى من

हुसैनी क्रांति

शहीद
मुर्तज़ा
मुतह्हरी

حسين

हुसैनी क्रांति

शहीद मुर्तज़ा मुतह्हरी

ट्रांस्लेशन

अब्बास असग़र शबरेज़

किताब : **हुसैनी क्रांति**

राइटर : **शहीद मुर्तज़ा मुतह्हरी**

ट्रांस्लेटर : **अब्बास असग़र शबरेज़**

पहला प्रिन्ट : **जून 2018**

तादाद : **2000**

पब्लिशर : **ताहा फ़ाउंडेशन, लखनऊ**

प्रेस : **न्यु लाइन प्रॉसेस, दिल्ली**

क़ीमत : **20 रुपए**

+91- 9956 62 0017
8127 79 3428

इमाम हुसैन अ0 की आख़िरी दुआ

ऐ अल्लाह!

तेरा मुक़ाम बुलंद, तेरा ग़ज़ब ख़तरनाक और तेरी ताक़त हर ताक़त से बढ़कर है।

तू अपनी मख़लूक़[1] *से बेनियाज़*[2] *है, तेरी अज़मत हर जगह है और तू जो चाहे कर सकता है।*

तेरी रहमत बंदों से क़रीब, तेरा वादा सच्चा, तेरी नेमत शामिल और तेरा इम्तेहान अच्छा है।

जो बन्दे तुझे पुकारें तू उनके पास है और जो कुछ तूने पैदा किया है तू उस पर पूरा कंट्रोल रखता है।

जो तौबा करे तू उसकी तौबा को कुबूल कर लेता है और तू जो चाहता है उसे करके भी दिखा देता है।

तू जो चाहे मालूम कर सकता है।

---

[1] रचना

[2] जिसे किसी की कोई ज़रूरत न हो।

जो लोग तेरा शुक्र अदा करते हैं तू उनका शुक्रिया अदा करता है। तू हर याद करने वाले को याद रखता है।

मैं तुझे पुकार रहा हूँ क्योंकि मैं तेरा मोहताज हूँ और तेरी तरफ़ आ रहा हूँ क्योंकि मैं तेरा फ़क़ीर हूँ।

मैं डरकर तेरी बारगाह में फ़रियाद कर रहा हूँ और ग़म से तेरे सामने रो रहा हूँ।

मैं कमज़ोर हूँ इसलिए तुझ से मदद मांग रहा हूँ।

अपने आप को तेरे हवाले कर रहा हूँ क्योंकि बस तू ही काफ़ी है।

ऐ अल्लाह! मेरे और मेरी क़ौम के बीच फ़ैसला कर दे क्योंकि इन लोगों ने साज़िश की है और मेरी मदद करने का वादा भुला दिया है।

इन लोगों ने तेरे पैग़म्बर और तेरे हबीब हज़रत मोहम्मद[स०] की औलाद को क़त्ल किया है, वह पैग़म्बर जिनको तूने अपनी रिसालत के लिए चुना था और जिन्हें अपनी वही का अमीन बनाया था।

ऐ अल्लाह! ऐ सब से मेहरबान हस्ती!

मैं तेरी क़ज़ा व क़द्र के मुक़ाबले में सब्र करने वाला हूँ।

ऐ परवरदिगार! तेरे अलावा कोई ख़ुदा नहीं है।

ऐ फ़रियाद करने वाले की फ़रियाद सुनने वाले!

मेरा तेरे अलावा कोई माबूद और परवरदिगार नहीं है।

मैं तेरे हुक्म और तेरी बनाई हुई तक़दीर पर राज़ी हूँ।

ऐ मुर्दों को ज़िंदा करने वाले!

ऐ वह ख़ुदा जो हर एक को उसके आमाल से परखता है!

मेरे और इन लोगों के बीच फ़ैसला कर दे क्योंकि तू ही बेहतरीन फ़ैसला करने वाला है।

फिर आप ने अपना चेहरा ज़मीन पर रखकर कहाः

''बिस्मिल्लाहि व बिल्लाहि व फ़ी सबीलिल्लाहि व अला मिल्लति रसूलिल्लाह।''

Contents

अपनी बात

करबला के बारे में आज तक बहुत कुछ लिखा और कहा जा चुका है मगर करबला एक ऐसी सच्चाई का नाम है कि जितना वक़्त आगे बढ़ता जा रहा है उतने ही पर्दे उठते जा रहे हैं और करबला का एक नया चेहरा हमारे सामने आता जा रहा है। करबला इस्लाम और क़ुरआन का असली चेहरा है। करबला में हमें इस्लाम और क़ुरआन नज़र आता है। जितना वक़्त आगे बढ़ता जा रहा है उतना ही इस्लाम और क़ुरआन का रंग भी निखरता जा रहा है यानी उतनी ही क़ुरआन की गहराईयाँ खुलकर हमारे सामने आती जा रही हैं। बिल्कुल इसी तरह करबला भी वक़्त के साथ-साथ हमारे सामने अपने जलवे बिखेरती जा रही है।

करबला हमें जीना सिखाती है, जीने का सलीक़ा सिखाती है और एक सच्ची इस्लामी ज़िंदगी का ख़ाका पेश करती है।

जो किताब आपके सामने है यह शहीद मुर्तज़ा मुतह्हरी की ज़बान से निकलने वाली वह बातें हैं जिनमें उन्होंने हमें करबला के बारे में ऐसी-ऐसी बातें बताई हैं जो इससे पहले न कही गई थीं और न सुनी गई थीं।

यह किताब इस सीरीज़ का पहला हिस्सा है और इसका दूसरा हिस्सा भी इंशाअल्लाह बहुत जल्दी ही आपके सामने पेश किया जाएगा।

किताब छपती है तो उसमें कहीं न कहीं कमियाँ या ग़लतियाँ रह ही जाती हैं। इस किताब को पढ़ने के बाद जो कमियाँ आपको दिखाई दें वह हमें ज़रूर बताईए ताकि अगले एडिशन में उन्हें दूर किया जा सके।

ताहा फ़ाउण्डेशन

लखनऊ

हुसैनी क्रांति

इमाम हुसैन[अ०] ने जिस मिशन और जिस क्रांति को शुरू किया था उसके बारे में एक सवाल यह उठता है कि उस मिशन का ढाँचा क्या था? उसका नेचर क्या था क्योंकि दुनिया की दूसरी हर चीज़ की तरह मिशन और क्रांतियाँ भी कई तरह की होती हैं। खनिजों से लेकर पेड़-पौधों और जानदारों तक सब का अपना-अपना एक ख़ास नेचर होता है, ठीक इसी तरह समाज में उठने वाली क्रांतियों का नेचर भी अलग-अलग होता है।

क्या हुसैनी क्रांति एक तरह का धमाका था?

इमाम हुसैन[अ०] की क्रांति के बारे में एक दूसरा सवाल यह भी दिमाग़ में उठता है कि क्या यह क्रांति एक तरह का विस्फ़ोट था जो उस वक़्त के समाज पर चारों तरफ़ से पड़ने वाले दबाव की वजह से हुआ था? क्या यह क्रांति बिना किसी हिसाब-किताब के शुरू की गई थी? जैसे अगर ढक्कन से बंद किसी बर्तन में कोई चीज़ उबाली जाती रहे तो आख़िर में वह बर्तन फट पड़ता है या ऐसा इन्सानों के साथ भी होता है कि ग़ुस्से या किसी दूसरी तरह के एहसास में आकर वह भी फट

पड़ते हैं और ऐसी बात कह बैठते हैं जो उन्हें नहीं कहना चाहिए थी बल्कि दिल में छुपी अनचाही बात होंठों पर आ जाती है। अब ऐसा किसी टम्प्रेरी फ़ैक्टर की वजह से भी हो सकता है और किसी ऐसे फ़ैक्टर की वजह से भी हो सकता है जो पहले कभी घट चुका हो। यह भी एक तरह का धमाका ही होता है।

दुनिया में ज़्यादातर क्रांतियाँ समाज पर पड़ने वाले भयंकर दबाव से होने वाले धमाके की वजह से होती हैं यानी अचानक ऐसे हालात बनते हैं कि समाज फट पड़ता है और क्रांति आ जाती है।

आज की दुनिया के मैटीरियालिस्टिक एप्रोच वालों और इस्लाम में एक फ़र्क़ यही है कि मैटीरियालिस्टिक एप्रोच वाले लोग अपने ख़ास डायलेक्टिक क़ानूनों पर भरोसा करते हुए कहते हैं कि समाज के अंदर मुसीबतों को ख़ूब बढ़ा दो, लोगों को समस्याओं से ख़ूब जूझने दो, कठिनाईयों, दिक़्क़तों और ज़रूरतों को भी बढ़ा दो, आपस में सब को एक-दूसरे से दूर कर दो, यहाँ तक कि समाज के अंदर सुधार व रिफ़ार्म को सही मायनी में लागू ही मत होने दो क्योंकि यही वह रास्ता है जिस पर चलकर अचानक धमाके के साथ होने वाली क्रांति लाई जा सकती है।। इसके उलट इस्लाम अचानक आने वाली और धमाके के साथ होने वाली क्रांति को कहीं से कहीं तक भी नहीं मानता है। इस्लाम जिस क्रांति की बात करता है वह क्रांति पूरी तरह से सोच-समझकर, हालात को सामने रखकर और पूरे चुनाव के साथ लाई जाने वाली क्रांति है।

अब सवाल यह है कि इमाम हुसैन[अ०] की क्रांति कौन सी क्रांति थी? क्या यह समाज के अंदर होने वाला कोई धमाका था जो हालात की वजह से अपने आप हो गया था? क्या यह सब इसलिए हुआ था क्योंकि अमीरे

शाम मुआविया के हाथों बल्कि और भी पहले से लोगों पर और इमाम हुसैन[अ०] के घर वालों पर भरपूर दबाव बनाया जा रहा था। यहाँ तक कि अब जब यज़ीद की हुकूमत का वक़्त आया तो हालात इतने बिगड़ गए कि इमाम हुसैन[अ०] से अब नहीं रहा जा रहा था और वह यह कहकर घर से निकल पड़े कि अब जो भी होगा देखा जाएगा, ऐसा है या कुछ और मामला है? ऐसा बिल्कुल नहीं है क्योंकि ख़ुद इमाम हुसैन[अ०] की बातों, उनके और अमीरे शाम के बीच लिखे गए ख़तों और उनके ख़ुतबों से यह बात अपने आप साबित हो जाती है कि इमाम हुसैन[अ०] की क्रांति कहीं से कहीं तक भी किसी दबाव की वजह से समाज के अंदर होने वाला कोई धमाका नहीं था बल्कि इमाम हुसैन[अ०] सब कुछ पूरी तरह से सोच-समझकर और हालात को परख कर अपने घर से निकले थे। यह एक क्रांति थी, न कि धमाका। यह पूरी तरह से एक इस्लामी क्रांति थी। अपनी क्रांति को लोगों के बीच फैलाने के लिए इमाम हुसैन[अ०] ने बहुत सारे ख़ुतबे दिए थे उनमें से एक ख़ुतबा हज के मौसम में मिना में अल्लाह के रसूल[स०] के सहाबियों के बीच दिया गया ख़ुतबा भी है जो काफ़ी लम्बा और बहुत ज़बरदस्त ख़ुतबा है जो किताब *तोहफ़ुल उक़ूल* में लिखा हुआ है।

इमाम हुसैन[अ०] की एक ख़ास बात यह भी है कि इमाम अपने एक-एक साथी को लेकर पूरी तरह से चौकस थे कि कहीं उनकी क्रांति किसी समाजी धमाके में न बदल जाए। तभी तो इमाम हुसैन[अ०] किसी न किसी बहाने से अपने साथियों को वापस करना चाह रहे थे। एक-एक से बता रहे थे कि देखो! इस बात को अच्छी तरह से समझ लो कि मेरे पास रहकर तुम्हें कुछ भी नहीं मिलने वाला, यहाँ तक कि रोटी और पानी भी

नसीब नहीं होगा। इतना ही नहीं बल्कि इमाम ने आशूर की रात में भी अपने सारे साथियों को एक जगह इकट्ठा करके उन्हें अच्छी तरह से हर बात समझा दी थी। इमाम हुसैन[अ०] ने एक-एक को देखते हुए कहा था कि मैंने अपने साथियों और अपने घर वालों से अच्छे साथी और घर वाले किसी के नहीं देखे हैं। मैं इस बात के लिए तुम सब का शुक्रिया अदा करता हूँ लेकिन यह भी समझ लो कि दुश्मन की लड़ाई बस मुझ से है, तुम में से किसी से भी इन लोगों को कुछ लेना-देना नहीं है। अगर तुम जाना चाहो तो जा सकते हो। अगर वह समझ जाएंगे कि तुम अपने आप को इस जंग से अलग करके जा रहे हो तो वह तुम में से किसी से भी कुछ नहीं कहेंगे। तुम में से हर एक अगर चाहे तो मेरे घर वालों में से किसी को अपने साथ लेकर जंग के इस मैदान से कहीं बहुत दूर निकलकर जा सकता है। तुम मुझे मत देखो, मैं यहाँ अकेला रह लूँगा।

दुनिया के जो लीडर लोगों के दुखों और उनकी समस्याओं को अपना हथियार बनाते हैं वह कभी भी इमाम हुसैन[अ०] के जैसी बातें नहीं करते। ऐसे लीडरों का तो बस एक ही काम होता है कि लोगों को बस उनकी धार्मिक ड्युटी गिनवाते रहते हैं। वैसे करबला वाले हालात में भी दीनी ज़िम्मेदारी थी और इमाम हुसैन[अ०] ने लोगों को यह बात समझाने में कोई कसर नहीं छोड़ी थी लेकिन इमाम हुसैन[अ०] चाहते थे कि अगर लोग अपनी इस दीनी ड्युटी को पूरा करना चाहते हैं तो अपनी आज़ादी के साथ और पूरी तरह सोच-समझ कर इस मैदान में आएं। इसीलिए इमाम हुसैन[अ०] ने अपने साथियों से कहा था कि दुश्मन तुम्हें घेर कर यहाँ नहीं लाया है। दुश्मन की तरफ़ से तुम बिल्कुल मजबूर नहीं हो। अगर रात के अंधरे में छुप-छुपाकर निकलना चाहते हो तो

अभी भी वक़्त है, चले जाओ। कोई तुम्हें नहीं रोकेगा। न दुश्मन तुम्हें रोकेगा और न मैं। यानी इमाम हुसैन[अ०] ने हर तरह की आज़ादी और कोई भी रास्ता चुनने की खुली छूट दे दी थी। अगर तुम मेरे साथ आना चाहते हो तो फिर पूरी तरह से सोच-समझ कर और अपने दिल की आवाज़ सुनकर मेरे साथ आओ जिसमें तुम्हें न दुश्मन का डर हो और न मेरा।

यही वह फ़ैक्टर है जिसकी वजह से करबला में शहीद होने वाले इतने महान हो गए हैं वरना स्पेन की जंग में तारिक़ बिन ज़ियाद ने जब स्पेन को जीत कर अपने कंट्रोल में कर लिया था तो उसने आर्डर दे दिया था कि अगले चौबीस घंटों के लिए खाने-पीने का सामान बचाकर रख लो और जो कुछ बच जाए उसमें आग लगा दो। साथ ही इन सारी कश्तियों में भी आग लगा दो। उसके बाद उसने अपने फ़ौजी कमांडरों को बुलाकर सामने दूर तक फैले समुद्र की ओर इशारा करते हुए उनसे कहा था कि तुम्हारे सामने दुश्मन खड़ा है और तुम्हारे पीछे दूर तक फैला हुआ यह समुद्र है। अगर तुम भागना चाहते हो तो तुम्हारे पास बस एक ही रास्ता है कि इस समुद्र में डूब कर मर जाओ क्योंकि कश्तियों में तो पहले ही आग लगा दी गई है। अगर सुस्ती दिखाओगे तो खाने-पीने के सामान का स्टॉक भी अगले चौबीस घंटों में ख़त्म हो जाएगा। उसके बाद बिना खाए-पिए ख़ुद ही मर जाओगे। इसलिए तुम्हारे पास बचने का बस एक ही रास्ता है और वह है दुश्मन को हराना। तुम्हारी ख़ुराक दुश्मन के हाथों में है इसलिए अब एक ही रास्ता बचता है कि दुश्मन से जी-जान से लड़ो और उसे हराकर अपनी ज़िन्दगी बचा लो।

असल में तारिक़ बिन ज़ियाद ने अपने सारे साथियों को मजबूर कर दिया था और उनके पास दुश्मन

से जंग करने के सिवा और कोई रास्ता बचा ही नहीं था। अब अगर उसके फ़ौजी अपनी आख़िरी साँस और अपने ख़ून की आख़िरी बूँद तक न लड़ते तो क्या करते? उन्हें तो दुश्मन से लड़ना ही था क्योंकि यह उनकी मजबूरी थी।

इमाम हुसैन[अ०] ने अपने साथियों के साथ तारिक़ बिन ज़ियाद के बिल्कुल उलट काम किया था। इमाम ने अपने साथियों से यह नहीं कहा था कि अगर इधर से भागोगे तो भी दुश्मन तुम्हें मार डालेगा और अगर उधर से भागोगे तो भी तुम्हें पकड़ कर तुम्हारी जान ले लेगा। इसलिए तुम्हारे पास बस एक ही रास्ता है कि जैसे भी हो मेरा साथ दो। जब तुम्हें हर हाल में मरना ही है तो फिर मेरा ही साथ देकर मरो।

अगर इमाम हुसैन[अ०] ने अपने साथियों से यह सारी बातें कह दी होतीं तो फिर इस तरह से मरना या शहीद होना कोई बड़ी बात नहीं थी।

तारिक़ बिन ज़ियाद राजनेता था इसीलिए उसने अपने फ़ौजियों से वह सारी बातें कही थीं और उन्हें मजबूर कर दिया था लेकिन इमाम हुसैन[अ०] ने अपने साथियों से ऐसा कुछ भी नहीं कहा बल्कि इसके उलट कहा कि न तुम्हारे पीछे कोई समुद्र है और न तुम्हारे सामने दुश्मन, न ही दुश्मन तुम्हें घेर कर यहाँ लाया है और न ही तुम मेरी वजह से मजबूर हो। तुम्हारे सामने सारे रास्ते खुले हुए हैं। इसलिए तुम जिस रास्ते को भी चुनना चाहो चुन सकते हो लेकिन जो रास्ता भी चुनना अपनी भरपूर आज़ादी से और पूरी तरह से सोच-समझकर चुनना।

इस तरह इमाम हुसैन[अ०] की लाई हुई क्रांति में सब से पहली और सब से बड़ी बात यह है कि यह क्रांति एक सोची-समझी क्रांति थी और पूरे हिसाब-किताब के

साथ शुरू की गई थी जिसे इमाम हुसैन[अ०], उनके घर वालों और उनके साथियों ने मिलकर तैयार किया था।

मल्टी-डायमेंशनल क्रांति

सोच-समझकर चलाई गई क्रांति के पीछे कई फ़ैक्टर हो सकते हैं। इमाम हुसैन[अ०] की क्रांति के पीछे भी कई फ़ैक्टर दिखाई पड़ते हैं जिसकी वजह से यह क्रांति बहू-आयामी हो गई है। सोशल और नेचुरल घटनाओं में एक फ़र्क़ यह होता है कि नेचुरल चीज़ें एक आयामी होती हैं, बहू-आयामी हो ही नहीं सकतीं। जैसे यह कभी हो ही नहीं सकता कि कोई धातु एक ही पल में सोना भी हो और तांबा भी लेकिन इसके उलट समाजी घटनाएं बड़े आराम से एक ही पल में बहू-आयामी हो सकती हैं। यहाँ तक कि इन्सान भी ऐसा ही एक अजूबा है जो एक ही वक़्त में बहू-आयामी हो सकता है जैसे आदमी एक ही पल में फ़रिश्ता भी हो सकता है और जानवर भी।

ऐसा भी हो सकता है कि कोई क्रांति किसी रिएक्शन के नतीजे में उभरी हो। अब अगर कोई क्रांति किसी रिएक्शन की वजह से शुरू हुई है तो किसी फ़ैक्टर की वजह से यह निगेटिव रिएक्शन भी हो सकता है और किसी दूसरे फ़ैक्टर की वजह से पॉज़िटिव रिएक्शन भी। इमाम हुसैन[अ०] की क्रांति में यह सारे फ़ैक्टर पाए जाते हैं। इसी वजह से इमाम हुसैन[अ०] की क्रांति को मल्टी-डायमेंशनल कहा जाता है क्योंकि इस क्रांति के पीछे बहुत सारे फ़ैक्टर हैं।

आइए! अब देखते हैं कि इस क्रांति के पीछे कौन-कौन से फ़ैक्टर हैं।

(1) बैअत[1]

अगर पीरियड के हिसाब से देखा जाए तो इस क्रांति के पीछे बैअत ही सब से पहला फ़ैक्टर दिखाई पड़ता है। इमाम हुसैन[अ०] मदीने में रहते थे। अमीरे शाम मुआविया ने अपने मरने से पहले मदीना का सफ़र किया था ताकि अभी से ही तय हो जाए कि मरने के बाद उनका बेटा यज़ीद ही राजगद्दी पर बैठेगा। अमीरे शाम ने मदीने आकर इमाम हुसैन[अ०] से बैअत मांगी मगर कामयाबी नहीं मिली। उनके मरने के बाद यज़ीद आगे बढ़ा और उसने भी इमाम हुसैन[अ०] से बैअत मांगी। अगर इमाम हुसैन[अ०] यज़ीद की बैअत कर लेते तो इसका मतलब यह होता कि इमाम हुसैन[अ०] यज़ीद की हुकूमत को सही मानने के साथ-साथ अमीरे शाम की इस पॉलिसी को भी सही मानते हैं कि पहले वाला ख़लीफ़ा अपने बाद वाले ख़लीफ़ा को तय करके इस दुनिया से जाएगा, न कि पहले वाला ख़लीफ़ा इस दुनिया से चला जाए तो बाद वाले ख़लीफ़ा का चुनाव हो और अगर शिया हों तो अल्लाह के रसूल[स०] के बताए रास्ते पर चलें। अमीरे शाम ने जो पॉलिसी अपनाई थी उसे न शिया मानते थे और न ही अहले-सुन्नत। इसलिए यज़ीद की बैअत करने का मतलब बस यही नहीं निकलता कि यज़ीद जैसे नीच आदमी की बैअत हो रही है बल्कि इसका मतलब यह होता कि एक ऐसी पॉलिसी को सही माना जा रहा है जो इस्लामी इतिहास में पहली बार अमीरे शाम ने शुरू की थी।

---

[1] पुराने ज़माने में आज की तरह इलेक्शन या वोटिंग का सिस्टम नहीं था। इसकी जगह होता यह था कि जो भी राजा या ख़लीफ़ा बनता था, लोग उसकी बैअत करते थे और इसका तरीक़ा यह था कि लोग उसके हाथ पर अपना रखकर उसे अपना ख़लीफ़ा या राजा मान लेते थे।

अमीरे शाम मुआविया के इस दुनिया से जाने के बाद अब हालात ऐसे बन गए थे कि यज़ीद इमाम हुसैन[अ०] से अपनी बैअत मांग रहा था और वह भी खुल्लम-खुल्ला मांग रहा था। यज़ीद ने इमाम हुसैन[अ०] से बैअत करने के लिए कहा तो इमाम ने भी अपना रिएक्शन दिखाया जो ज़ाहिर है कि निगेटिव था यानी तुम मुझ से बैअत चाहते हो? नहीं! मैं तुम्हारी बैअत नहीं कर सकता। यहाँ इमाम हुसैन[अ०] ने पूरी तरह से अपना निगेटिव रिएक्शन दिखाया था। यह वही तक़्वा (Pious) वाला रिएक्शन था। समाज में रहने वाले हर आदमी से कभी न कभी ऐसे काम करने को कहा जाता है जो वह नहीं करना चाहता। कभी लालच देकर कोई काम करने के लिए कहा जाता है तो कभी डरा-धमका कर, कभी माल-दौलत देकर तो कभी कोई पोस्ट देकर। अब यही वह जगह होती है जहाँ आदमी को ''ना'' कहना होता है और इसी को तक़्वा कहते हैं। यज़ीद इमाम हुसैन[अ०] से कह रहा था कि मेरी बैअत कीजिए मगर इमाम हुसैन[अ०] साफ़-साफ़ कह रहे थे कि मैं तुम्हारी बैअत किसी भी हाल में नहीं कर सकता। यज़ीद की तरफ़ से धमकी दी गई मगर फिर भी इमाम हुसैन[अ०] ने वही जवाब दिया कि चाहे मेरी जान चली जाए लेकिन मैं बैअत नहीं करूंगा।

यहाँ तक इमाम हुसैन[अ०] की क्रांति के पीछे रिएक्शन वाला फ़ैक्टर है और वह भी निगेटिव रिएक्शन जो इसलिए सामने आया था कि यज़ीद इमाम हुसैन[अ०] से एक ऐसा काम करने के लिए कह रहा था जो इस्लामी हिसाब से ग़लत था। इस बात को यूँ भी कहा जा सकता है कि यहाँ तक इस क्रांति का नेचर ''तक़्वा वाला नेचर'' है।

(2) कूफ़ियों का इमाम हुसैन[अ0] को बुलाना

इमाम हुसैन[अ0] की क्रांति के पीछे बस बैअत वाला फ़ैक्टर ही नहीं था बल्कि कुछ दूसरे फ़ैक्टर भी थे और इन फ़ैक्टर्स के हिसाब से भी यह क्रांति एक तरह के रिएक्शन की वजह से आई थी लेकिन यह निगेटिव रिएक्शन नहीं था बल्कि पॉज़िटिव रिएक्शन था।

अमीरे शाम मुआविया का आख़िरी वक़्त आ गया था। वैसे पिछले बीस सालों में कम से कम पाँच साल इमाम अली[अ0] इसी शहर में रह चुके थे और अभी भी कूफ़ा शहर से और वहाँ रहने वालों के बीच से इमाम अली[अ0] की सिखाई-बताई बातों का असर पूरी तरह से नहीं मिटा था।[1] जब अमीरे शाम की आँख बंद हो गई तो बीस साल के बाद कूफ़े वालों को होश आया और वह अपनी गहरी नींद से चौंके। सब ने मिलकर मीटिंग की और इस बात पर सोच-विचार किया कि अब हालात बदल गए हैं इसलिए वक़्त से सही फ़ाएदा उठाते हुए कुछ न कुछ करना चाहिए। कहीं ऐसा न हो कि यह वक़्त भी हाथ से निकल जाए और हुकूमत एक बार फिर उसके बेटे यज़ीद के हाथ में चली जाए। हमारे पास इमाम हुसैन[अ0] हैं जो अल्लाह के बनाए हुए इमाम हैं। इसलिए हम सब को तैयार हो जाना चाहिए और उन्हें मदीने से कूफ़े बुला लेना चाहिए। हम उनकी मदद करेंगे और हमारी सब से पहली कोशिश यह होगी कि हमारा शहर कूफ़ा ताक़त का एक सेंटर बन जाए। जब ऐसा

---

[1] वैसे हज़रत अली[अ0] के बहुत सारे साथियों को रास्ता से हटा दिया गया था। हुज्र बिन अदी, अम्र बिन हमिक़ ख़ुज़ाई, रूशैद ह-ज-री और मीसमे तम्मार जैसे लोगों को जान से मार दिया गया था ताकि कूफ़े को हज़रत अली[अ0] के असर से धो दिया जाए और कूफ़े वालों के दिल से हज़रत अली[अ0] की मोहब्बत निकाल दी जाए लेकिन अभी भी काफ़ी कुछ बचा हुआ था।

हो जाएगा तो फिर अगले पड़ाव में हुकूमत को इस्लामी हुकूमत बनाने के बारे में सोचेंगे।

कूफ़े वाले पूरी तरह से तैयार थे। अपने दिल से और अपनी जान अपनी हथेली पर लेकर इमाम हुसैन[अ०] को मदीने से कूफ़े बुला रहे हैं और कह रहे हैं कि आप कूफ़े आ जाइए क्योंकि यहाँ फ़सल पूरी तरह से तैयार हो चुकी है और पेड़ों पर लगे हुए फल पक गए हैं। इस बात का मतलब यह नहीं था कि बसंत का मौसम आ गया है। कुछ लोग सोचते हैं कि कूफ़े वाले यह कहना चाह रहे थे कि ऐ इमाम हुसैन! यहाँ आ जाइए क्योंकि पेड़ हरे-भरे हो चुके हैं और फलों से लदे हुए हैं। यहाँ आ जाइए और हमारे साथ इन फलों के मज़े लीजिए। नहीं! ऐसा नहीं है क्योंकि यह एक मुहावरा है। फलों के पकने की बात कहकर कूफ़े वाले यह कहना चाह रहे थे कि इन्सानों के पेड़ हरे-भरे हो गए हैं और समाज से बना यह बाग़ फलों से लदा हुआ है इसलिए आप जल्दी यहाँ आ जाइए।

असल में कूफ़ा शहर एक छावनी था। कूफ़े को छावनी बनाने के लिए ही बसाया गया था। यह शहर दूसरे ख़लीफा उमर बिन ख़त्ताब की हुकूमत में बसाया गया था। पहले इसका नाम *हीरा* था। इस शहर को साद वक़्क़ास ने बसाया था। इस शहर में वह मुसलमान रहते थे जो सिपाही थे। इन सिपाहियों ने अपने-अपने घर इसी शहर में बना लिए थे। जिससे यह शहर दुनिया का एक बहुत दमदार शहर बन गया था।

अब इसी शहर के लोगों ने इमाम हुसैन[अ०] को अपने यहाँ बुलाया था। कूफ़े से एक-दो या हज़ार-पाँच हज़ार या दस हज़ार नहीं बल्कि लगभग अठ्ठारह हज़ार ख़त इमाम हुसैन[अ०] के पास पहुँच चुके थे जिनमें कुछ ख़त ऐसे भी थे जिन पर कई-कई लोगों और कुछ पर

शायद सौ–सौ लोगों के साइन थे। अगर इस तरह से देखा जाए तो लगभग एक लाख लोगों ने इमाम हुसैन[अ०] को कूफ़े बुलाया था।

अब इन हालात में इमाम हुसैन[अ०] को क्या करना चाहिए था? इमाम यह नहीं कर सकते थे कि आगे न बढ़ते और इसीलिए इमाम ने उनके ख़तों के जवाब में अपना रिएक्शन दिखाया और वह भी पॉज़िटिव रिएक्शन क्योंकि कूफ़े के मुसलमान दुश्मन से जंग करने के लिए तैयार थे और अब ज़रूरी हो गया था कि इमाम हुसैन[अ०] अपने घर से निकल कर उनकी मदद करें। यहाँ इमाम हुसैन[अ०] का रिएक्शन कहीं से कहीं तक निगेटिव नहीं है बल्कि पूरी तरह से पॉज़िटिव है क्योंकि मुसलमानों ने बुलाया है इसलिए अब इमाम को उनके बुलाने पर जाना ही जाना है।

बैअत वाले फ़ैक्टर में इमाम हुसैन[अ०] को ''ना'' ही कहना था और वही उनकी इस्लामी ड्युटी थी ताकि अपना दामन बैअत के धब्बे से बचा सकें। अब अगर इमाम हुसैन[अ०] इब्ने अब्बास की बात मान लेते और यमन के पहाड़ों की तरफ़ निकल जाते जहाँ यज़ीद के सिपाही पहुँच ही न पाते तो यज़ीद की बैअत से जुड़ी अपनी पहली इस्लामी ड्युटी को आसानी से पूरा कर सकते थे क्योंकि यज़ीद इमाम हुसैन[अ०] से बैअत मांग रहा था और इमाम बैअत को ठुकरा रहे थे। अगर इब्ने अब्बास और दूसरों की बात मानते हुए इमाम हुसैन[अ०] यमन के पहाड़ों पर चले जाते तो इस काम से आसानी से बच सकते थे और उन्हें यज़ीद की बैअत भी न करना पड़ती लेकिन कूफ़े से आने वाले ख़तों और वहाँ वालों के बुलावे के बाद इमाम हुसैन[अ०] पर एक दूसरी ज़िम्मदारी आ गई थी क्योंकि कूफ़े के मुसलमान लगभग अट्ठारह हज़ार ख़त, लगभग एक लाख लोगों के साइन

के साथ भेज चुके थे। अब इमाम हुसैन[अ०] के पास दूसरा कोई रास्ता नहीं था।

वैसे शुरू से ही इमाम हुसैन[अ०] को देखकर ऐसा लग रहा था कि उन्हें कूफ़े वालों पर पूरा भरोसा नहीं है क्योंकि वह लोग पूरी तरह से तैयार नहीं दिख रहे थे। इमाम हुसैन[अ०] के हिसाब से कूफ़े वाले बड़े सुस्त और डरे हुए लग रहे थे लेकिन इमाम हुसैन[अ०] के सामने यह बात भी थी कि उन्हें इतिहास को भी जवाब देना था। सच्ची बात यह है कि अगर इमाम हुसैन[अ०] कूफ़े वालों के बुलावे पर कूफ़े की तरफ़ न जाते तो आज हम सब भी यही कह रहे होते कि इमाम हुसैन[अ०] कूफ़े वालों के बुलावे पर कूफ़ा क्यों नहीं गए थे।

हमारी इस बात का एक नमूना यह हैः

बनी अब्बास की हुकूमत में अबू स–ल–मा ख़्ल्लाल को लोग ''वज़ीरे आले मोहम्मद[अ०]'' कहते थे। अब्बासी ख़लीफ़ा के साथ उसका बहुत अच्छा उठना–बैठना था लेकिन किसी वजह से आपस में बिगाड़ हो गया था जिसकी वजह से वह ख़लीफ़ा से अलग हो गया था। अलग होते ही उसने सब से पहला काम यह किया कि दो ख़त लिखेः एक ख़त इमाम जाफ़र सादिक़[अ०] के नाम और दूसरा अब्दुल्लाह महज़ के नाम। दो ख़त लिखे और दोनों ख़तों में एक ही बात लिखी कि मैं और अबू मुस्लिम अभी तक तो हुकूमत के लिए काम कर रहे थे लेकिन अब आगे से हम आपके साथ मिलकर काम करना चाहते हैं। इसलिए मैदान में आइए ताकि हम दोनों मिलकर इस हुकूमत की जड़ें उखाड़ कर फैंक दें।

पहली बात तो यह है कि जब कोई आदमी एक साथ दो लोगों को एक ही जैसे दो ख़त लिखता है तो यह इस बात की निशानी होती है कि सामने वाला अपनी बात में सच्चा नहीं है। दूसरी बात यह है कि

उसने यह ख़त उस वक़्त लिखे थे जब अब्बासी ख़लीफ़ा और उसकी हुकूमत के साथ उसका बिगाड़ हो गया था।

बहरहाल जैसे ही ख़त इमाम सादिक़[अ०] के पास पहुँचा तो उन्होंने उसे पढ़ा और पढ़ने के बाद ख़त लाने वाले के सामने ही उसे जला दिया। उसने पूछा कि इस ख़त का क्या जवाब दूँ? इमाम ने कहा कि इस ख़त का जवाब यही है। वह आदमी अभी वापस पहुँचा भी नहीं था कि *अबू स-ल-मा* को मार दिया गया था।

आज भी हम देखते हैं कि बहुत सारे लोग सवाल करते हैं कि आख़िर इमाम जाफ़र सादिक़ [अ०] ने *अबू स-ल-मा ख़ल्लाल* का साथ क्यों नहीं दिया था? जबकि सवाल करने वाले यह भी जानते हैं कि अबू स-ल-मा सिर्फ़ एक आदमी था यानी उसका साथ देने वाला दूसरा और कोई नहीं था। दूसरे यह कि वह अपनी बात का धनी भी नहीं था और तीसरे यह कि उसने उस वक़्त यह ख़त लिखा था जब अब्बासी ख़लीफ़ा के साथ उसका बिगाड़ हो गया था और ख़लीफ़ा भी समझ गया था कि यह आदमी दिल से हमारे साथ नहीं है और इसीलिए कुछ ही दिनों के बाद ख़लीफ़ा ने उसे जान से मार दिया था।

अब जबकि कूफ़े वालों के अट्ठारह हज़ार ख़त इमाम हुसैन[अ०] के पास मदीने और मक्के -ख़ास कर मक्के- में पहुँच गए थे और इसके बाद भी इमाम उनके ख़तों पर अपना पॉज़िटिव रिएक्शन न दिखाते तो इतिहास के पन्ने हमेशा इमाम हुसैन[अ०] को बुरा- भला कहते रहते और साथ में यह भी कहा जाता कि अगर कूफ़े वालों के पास चले जाते तो यज़ीद और यज़ीदी हुकूमत हमेशा-हमेशा के लिए मिट जाती क्योंकि कूफ़ा तो बहादुर मुसलमान सिपाहियों की छावनी पहले से ही था और यही कूफ़ा वह शहर था जहाँ हज़रत अली[अ०] ने

पाँच साल बिताए थे और अभी भी इस शहर में हज़रत अली[अ०] का असर दिखाई पड़ता था। अभी भी इमाम अली[अ०] की आवाज़ कूफ़े वालों के कानों से टकराती रहती थी। इतिहास यही कहता कि इमाम हुसैन[अ०] डर गए थे और इसीलिए कूफ़े नहीं गए। काश! चले जाते तो मुस्लिम जगत में एक क्रांति आ जाती।

यही वजह थी कि इतने सारे ख़तों के बाद इमाम हुसैन[अ०] के पास और कोई रास्ता नहीं बचा था क्योंकि कूफ़े वाले कह रहे थे कि हम बिल्कुल तैयार हैं, बस आप आ जाइए। सीधी सी बात है कि इतने सारे ख़तों का जबाव यही हो सकता था इमाम कह देते कि ठीक है, मैं आ रहा हूँ।

इस हिसाब से इमाम हुसैन[अ०] की इस्लामी ड्युटी क्या थी ? कूफ़े वालों ने इमाम को अपने यहाँ बुलाया था और इमाम कूफ़े ही जा रहे थे। इस काम के लिए इमाम ने पहले ही अपने भाई मुस्लिम बिन अक़ील[अ०] को कूफ़े भेज दिया था कि जाओ और वहाँ जाकर हालात का पता लगाओ लेकिन कूफ़े वालों ने मुस्लिम बिन अक़ील[अ०] के हाथों पर की हुई बैअत तोड़ दी थी। अब इमाम क्या करते ? इमाम हुसैन[अ०] यह भी सोच सकते थे कि अब मुझे वापस अपनी जगह पर पलट जाना चाहिए, या मदीने या कहीं और। अब इसके बाद इन लोगों के जो जी में आए करें यानी जब तक कूफ़े वालों के बुलाने की बात थी तो इमाम हुसैन[अ०] ने इस मामले में अपना पॉज़िटिव रिएक्शन दिया था और इमाम तब तक कूफ़े की तरफ़ बढ़ते रहे थे जब तक कि कूफ़े वाले अपनी बात पर टिके रहे थे लेकिन जैसे ही कूफ़े वाले अपने वादे से फिरे वैसे ही इमाम हुसैन[अ०] की ज़िम्मेदारी भी बदल गई।

इन दोनों में से कौन सा फ़ैक्टर बड़ा है ?

इन दोनों में से कौन सा फ़ैक्टर दूसरे वाले फ़ैक्टर से बड़ा है? क्या ऐसा है कि पहले इमाम हुसैन[अ०] ने बैअत करने से मना किया और चूँकि बैअत करने से मना कर दिया था इसलिए कूफ़े वालों ने आपको इतने सारे ख़त लिखकर अपने यहाँ बुलाया था या इमाम हुसैन[अ०] को यज़ीद की बैअत ठुकराए एक महीना बीत गया था और उसके बाद कूफ़े से ख़त आना शुरू हुए थे? या मामला उल्टा है कि कूफ़े वालों ने इमाम हुसैन[अ०] को अपने यहाँ बुलाया तो इमाम ने सोचा कि अब मुझे इन लोगों का साथ देना चाहिए? सामने की बात है कि जो आदमी भी इतने बड़े काम का बेड़ा लेकर अपने घर से निकलेगा उसके लिए बैअत का कोई मतलब नहीं बनता है। क्या इसलिए बैअत नहीं की थी कि कूफ़े वालों के बुलाने पर कूफ़ा जा सकें। इन दोनों में से कौन सा फ़ैक्टर बड़ा है? टाइम के हिसाब से पहला वाला फ़ैक्टर ही असली फ़ैक्टर है क्योंकि जिस दिन अमीरे शाम की आँख बंद हुई थी उसी दिन इमाम हुसैन[अ०] से बैअत मांग ली गई थी बल्कि अमीरे शाम ने अपने मरने से पहले भी मदीने का सफ़र किया था ताकि जैसे भी हो और जिस बहाने से भी हो, इमाम हुसैन[अ०] और दो-तीन दूसरे लोगों से यज़ीद की बैअत ले ली जाए लेकिन इन लोगों ने किसी भी हाल में यज़ीद की बैअत नहीं की थी।

अगर वक़्त के हिसाब से देखा जाए तो बैअत मांगे जाने और उसे ठुकराए जाने वाला काम पहले हुआ था। अमीरे शाम के मरने के बाद ख़ुद यज़ीद ने अपने बाप के मरने की ख़बर लेकर बहुत तेज़ दौड़ने वाले ऊँटों पर एक ग्रुप मदीने भेजा था जो कुछ ही दिनों के अंदर मदीना पहुँच गया था। यज़ीद ने एक ख़त लिखा था और जिस आदमी ने मदीने के गवर्नर को अमीरे शाम

मुआविया के मरने की ख़बर दी थी उसी ने वह ख़त भी उसे दिया था जिसमें लिखा हुआ थाः

> जैसे भी हो, हुसैन[अ०] और इन दो-तीन लोगों से फ़ौरन मेरी बैअत ले लो।

तब तक शायद कूफ़े में अमीरे शाम के मरने की ख़बर नहीं पहुँची थी।

साथ ही इतिहास की किताबों में यह भी लिखा है कि इमाम हुसैन[अ०] से बैअत मांगी गई लेकिन इमाम ने कोई जवाब नहीं दिया और दो-तीन दिन इसी तरह से बीत गए। सरकारी लोग आते रहे और कभी आराम से और कभी कड़े अंदाज़ में बैअत करने के लिए कहते रहे जिसके बाद इमाम हुसैन[अ०] ने मदीना छोड़ दिया। 27 रजब को मदीना छोड़कर मक्के की तरफ़ चल दिए और 3 शाबान को मक्के पहुँच गए। कूफ़े वालों का सब से पहला ख़त 15 रमज़ान को मक्के में ही मिला था यानी बैअत मांगे हुए और ठुकराए हुए डेढ़ महीना बीत गया था और इमाम को मक्के में रहते हुए चालीस दिन से ज़्यादा हो गए थे।

इसलिए मामला यह नहीं है कि पहले कूफ़े वालों ने बुलाया तो इमाम हुसैन[अ०] उनके बुलावे पर कूफ़े जा रहे थे और चूँकि इमाम कूफ़े जाने और कूफ़े वालों का साथ देने का फ़ैसला कर चुके थे इसलिए बैअत का कोई मतलब नहीं बनता था। अभी तो कूफ़े से कोई ख़त आया ही नहीं था और इमाम हुसैन[अ०] यज़ीद की बैअत को ठुकरा चुके थे और साफ़-साफ़ एलान कर चुके थे कि अगर इस ज़मीन पर कहीं भी मेरे लिए कोई जगह नहीं बचेगी तब भी मैं यज़ीद की बैअत नहीं करूँगा यानी अगर मुझे सारी ज़मीन पर कहीं भी न जीने दिया जाए फिर भी मैं बैअत नहीं करूँगा।

(3) अम्र बिल मारूफ़ व नही अनिल मुन्कर

अच्छाईयों की तरफ़ बुलाना व बुराईयों से रोकना

इतिहास ने हमें एक तीसरा फ़ैक्टर भी बताया है और वह ''अम्र बिल मारूफ़ व नही अनिल मुन्कर'' वाला फ़ैक्टर है। इमाम हुसैन[अ०] ने अपनी क्रांति पहले ही दिन से इस नारे के साथ शुरू की थी और इसी नारे के साथ अपना शहर मदीना छोड़ा था। इस हिसाब से मामला यह नहीं था कि इमाम हुसैन[अ०] बैअत मांगे जाने की वजह से यज़ीद से जंग करने के लिए निकले थे बल्कि अगर यज़ीद इमाम हुसैन[अ०] से बैअत करने के लिए न भी कहता तब भी इमाम अम्र बिल मारूफ़ और नही अनिल मुन्कर वाली अपनी इस्लामी ड्युटी को पूरा करने के लिए अपने घर से निकल पड़ते। मामला यह भी नहीं था कि इमाम हुसैन[अ०] कूफ़े वालों के बुलाने पर यज़ीद से जंग करने के लिए निकले थे बल्कि इमाम हुसैन[अ०] ने जब मदीना छोड़ा था तब तक तो कूफ़े वालों का कुछ अता-पता ही नहीं था। इमाम हुसैन[अ०] तो कूफ़े वालों के बुलाने से लगभग दो महीने पहले ही यज़ीद से जंग करने के लिए उठ खड़े हुए थे। मामला यह था कि मुस्लिम जगत में हर जगह बुराईयाँ फैल गई थीं और पूरी तरह से इस्लाम की शक्ल बिगाड़ दी गई थी। इमाम हुसैन[अ०] इस्लाम को बचाने और इस्लामी समाज को बुराईयों से पाक करने के लिए अपने घर से निकले थे क्योंकि उस वक़्त उनकी इस्लामी ड्युटी यही थी।

पहले फ़ैक्टर में इमाम हुसैन[अ०] एक ऐसे इन्सान हैं जो अपना बचाव करते हुए दिख रहे हैं यानी उनसे कहा जा रहा था कि यज़ीद की बैअत कीजिए मगर इमाम हुसैन[अ०] कह रहे थे कि मैं उसकी बैअत नहीं कर सकता। इस बात को यूँ भी कह सकते हैं कि इमाम

अपना बचाव कर रहे थे यानी बैअत की गंदगी से अपने आप को बचा रहे थे।

दूसरे फ़ैक्टर में इमाम हुसैन[अ०] एक ऐसे इन्सान हैं जो दूसरों का साथ दे रहे हैं और उनके साथ मिलकर काम कर रहे हैं। कूफ़े वालों ने इमाम को कूफ़े बुलाया था और उनसे मदद मांगी थी जिसका इमाम ने 'हाँ' में जवाब दिया था।

तीसरे फ़ैक्टर में इमाम हुसैन[अ०] एक ऐसे इन्सान हैं जो अटैकिंग पॉलिसी[1] अपना रहे हैं। यहाँ इमाम हुसैन[अ०] ने अपने वक़्त की हुकूमत पर अटैक किया है। इस फ़ैक्टर के हिसाब से इमाम हुसैन[अ०] एक इंक़ेलाबी (क्रांतिकारी) हैं और अपने समाज में क्रांति लाना चाहते हैं।

---

[1] यहाँ अटैकिंग पॉलिसी का मतलब यह नहीं है कि इमाम हुसैन[अ०] ने जंग करने में पहल की थी बल्कि मतलब यह है कि इमाम हुसैन[अ०] यज़ीद के ज़ुल्म और इस्लाम दुश्मनी में बनने वाली उसकी पॉलिसियों के ख़िलाफ़ उठ खड़े हुए थे। वरना इतिहास के पन्नों से यह बात पूरी तरह से साबित है कि जंग के मैदान में इमाम हुसैन[अ०] ने हथियारों के बल पर यज़ीद से जंग करने में कहीं से कहीं तक पहल नहीं की थी। जब यज़ीद की फ़ौज ने जंग छेड़ी तो इमाम हुसैन[अ०] ने अपने डिफ़ेंस में तलवार उठाई थी।

इमाम हुसैन[अ०] की इस्लामी ड्युटी

इमाम हुसैन[अ०] की क्रांति के बारे में ऊपर जो फ़ैक्टर गिनाए गए हैं अगर उन्हें सामने रखा जाए तो हर फ़ैक्टर के मुक़ाबले में इमाम की एक अलग इस्लामी ड्युटी दिखाई देती है। यही वह चीज़ है जिसको ध्यान में रखकर हम ने शुरू में कहा था कि इमाम हुसैन[अ०] की क्रांति बहू-आयामी क्रांति है।

बैअत वाले फ़ैक्टर में इमाम हुसैन[अ०] की कोई ज़िम्मेदारी नहीं बनती थी। उन्हें बस एक काम करना था जो उन्होंने कर दिया था कि यज़ीद की बैअत न करें। अगर इमाम हुसैन[अ०] अपने चचा इब्ने अब्बास की बात भी मान लेते और यमन के पहाड़ों की ओर चले जाते तो उनकी इस्लामी ड्युटी पूरी हो जाती। इस फ़ैक्टर के हिसाब से इमाम हुसैन[अ०] की ड्युटी यह बिल्कुल नहीं बनती थी कि किसी दूसरे से भी कहते कि आओ! इस काम में मेरी मदद करो लेकिन उधर से कूफ़े वाले भी बुलाने लगे थे, इसलिए अब एक दूसरी इस्लामी ड्युटी आ गई थी और वह यह कि कूफ़े वालों के बुलावे का 'हाँ' में जवाब देते और इमाम हुसैन[अ०] ने ऐसा ही किया भी था।

यहाँ पर एक सवाल यह भी किया जाता है कि अगर कूफ़े वालों के दबाव बनाने की वजह से इमाम हुसैन[अ०] ने अपनी क्रांति शुरू की थी तो फिर इमामत का क्या होगा? वह तो इमाम थे और इसलिए उन्हें अपने हिसाब से काम करना चाहिए था।

इसका जवाब यह है कि इमामत का मतलब यह नहीं है कि मुसलमानों के इमाम की कोई इस्लामी और दीनी डयुटी है ही नहीं। दूसरों की तरह इमाम को भी हालात को देखकर फ़ैसला करना होता है। इमाम अली[अ०] ने नहजुल बलाग़ा में पहले ही मामला बिल्कुल साफ़ कर दिया हैः

> अगर बैअत करने वालों और मदद करने वालों की वजह से मेरे कंधों पर ज़िम्मेदारी न आ गई होती और वह वादा न होता जो अल्लाह ने उलमा से ले रखा है कि वह ज़ालिम के सब कुछ चट कर जाने और मज़लूम (पीड़ित) के भूखा रह जाने पर आराम से न बैठें तो मैं हुकूमत की बागडोर उसी के कंधे पर डाल देता और उसके आख़िरी की प्यास उसी प्याले से बुझाता जिस प्याले से पहले वाले की प्यास बुझाई थी और तुम अपनी दुनिया को मेरी नज़रों में बकरी की छींक से भी ज़्यादा गिरा हुआ पाते।[1]

इमाम हुसैन[अ०] का मामला भी यही है क्योंकि इमाम तो हर हाल में इमाम होता है। वही समाज का लीडर और लोगों को रास्ता दिखाने वाला होता है। हम इमाम के फ़ैसलों और कामों को देखकर अपनी इस्लामी ड्युटी को भी समझ सकते हैं और यह भी समझ सकते हैं कि हमें क्या करना है।

कूफ़े वालों के बुलाने पर इमाम हुसैन[अ०] की इस्लामी ड्युटी कूफ़े जाना ही थी लेकिन यह ड्युटी बस तभी तक थी जब तक कि कूफ़े वाले अपनी बात पर टिके रहते। जैसे ही कूफ़े वाले अपनी बात से पीछे हटे

---

[1] नहजुल बलाग़ा, ख़ुतबा/3

और उनकी हार हुई वैसे ही इमाम की इस्लामी ड्युटी भी बदल गई यानी जब इमाम हुसैन[अ०] ने देखा कि अब कूफ़े वाले हुकूमत की बागडोर किसी दूसरे को दे रहे हैं तो इमाम ने भी अपना फ़ैसला बदल दिया लेकिन इमाम हुसैन[अ०] का काम बस इतना सा ही नहीं था कि कूफ़े वालों के बुलावे पर कूफ़ा चले जाएं और अगर वह पीछे हट जाएं तो फिर इमाम भी हाथ पर हाथ रखकर बैठ जाएं। कूफ़े वाला फ़ैक्टर एक टम्प्रेरी फ़ैक्टर था यानी एक ऐसा फ़ैक्टर था जो 15 रमज़ान से शुरू हुआ था और जिसके बाद खतों पर ख़त आते जा रहे थे। यह सब होता रहा और इमाम हुसैन[अ०] भी कूफ़े वालों के बुलाने की वजह से कूफ़े की तरफ़ बढ़ते रहे। इमाम हुसैन[अ०] ईराक़ और सऊदी अरब के बार्डर के बिल्कुल पास पहुँच गए थे। वहीं पर हुर बिन यज़ीद रियाही भी इमाम से मिले थे और वहीं पर इमाम हुसैन[अ०] को हज़रत मुस्लिम बिन अक़ील[अ०] की शहादत की ख़बर भी मिली थी। अब इसके बाद कूफ़े वाला चेप्टर अपने आप बंद हो गया था जिसके बाद इस बारे में इमाम हुसैन[अ०] की कोई ड्युटी भी नहीं बनती थी। इसीलिए यहाँ जब इमाम हुसैन[अ०] कूफ़े वालों के बारे में बात करते हैं तो इस तरह से बात करते हैंः तुम लोगों ने मुझे अपने पास बुलाया था। अब जबकि मैं आ गया हूँ तो तुम अपनी बात से फिर गए हो। इसलिए मैं वापस जा रहा हूँ। तुम ने मुझे बुलाया था इसलिए कूफ़े जाना मेरे लिए ज़रूरी हो गया था लेकिन अब जबकि तुम अपने किए पर पछता रहे हो तो मैं भी वापस जा रहा हूँ।

क्या इमाम हुसैन[अ०] की इस बात का यह मतलब था कि अब इसके बाद मैं यज़ीद की बैअत करने जा रहा हूँ? नहीं! ऐसा बिल्कुल नहीं था। बैअत वाला मामला एक दूसरा ही मामला है। उसका कूफ़े वाले

फ़ैक्टर से कोई मेल नहीं है और इसके बारे में ख़ुद इमाम हुसैन[अ०] ने पहले ही बात साफ़ कर दी थी कि अगर इस ज़मीन पर रहने के लिए मुझे मुट्ठी भर जगह भी न मिले तब भी मैं बैअत नहीं करूँगा।

ख़ास बात यह है कि इन सारे फ़ैक्टर्स में कूफ़े वाला फ़ैक्टर सब से हल्का और सब से छोटा फ़ैक्टर है। अगर असली फ़ैक्टर यही होता तो जैसे ही इमाम हुसैन[अ०] को पता चला था कि कूफ़े वाले अपनी बात से फिर गए हैं तो इमाम को चाहिए था कि दूसरी सारी बातों से भी अपनी आँखें बंद करके कह देते कि ठीक है, अब जबकि हालात ही बदल गए हैं तो मैं बैअत करने के लिए तैयार हूँ और अब मैं अम्र बिल मारूफ़ व नही अनिल मुन्कर भी नहीं करना चाहता लेकिन इमाम हुसैन[अ०] ने ऐसा कुछ भी नहीं किया। इसके उलट इमाम हुसैन[अ०] का सब से ज़बरदस्त और सब से बहादुरी भरा ख़ुतबा कूफ़े वालों के हारने के बाद ही का है।

यहीं से यह बात भी समझ में आ जाती है कि इमाम हुसैन[अ०] अम्र बिल मारूफ़ और नही अनिल मुन्कर वाले फ़ैक्टर को कितनी मज़बूती के साथ थामे हुए थे। यही वह फ़ैक्टर था जिसकी वजह से इमाम हुसैन[अ०] उस डगर से हटी हुई हुकूमत और पटरी से उतरी हुई सरकारी मशीनरी से भी टकरा गए थे। यही फ़ैक्टर हमें बताता है कि अपनी इस क्रांति में इमाम हुसैन[अ०] ने अपनी भरपूर ताक़त से हुकूमत पर हमला किया था और यही फ़ैक्टर हमें यह भी बताता है कि इमाम हुसैन[अ०] एक इंक़ेलाबी व क्रांतिकारी इन्सान के रूप में हुकूमत से टक्कर लेने के लिए आगे बढ़े थे।

इमाम हुसैन[अ०] कूफ़े की तरफ़ आगे बढ़ रहे थे कि तभी कूफ़े से आते हुए दो आदमी दिखाई पड़े। इमाम उन दोनों से बात करने के लिए रूक गए। वह लोग भी

समझ गए कि सामने इमाम हुसैन[अ०] हैं। वह दोनों अपना रास्ता बदलने लगे और इमाम भी समझ गए कि यह लोग बात नहीं करना चाहते हैं, इसलिए इमाम अपने रास्ते पर आगे बढ़ गए। इमाम हुसैन[अ०] का एक साथी थोड़ा सा पीछे चल रहा था। उन दोनों आदमियों का सामना इमाम के उस साथी से भी हुआ। उसने रूक कर उनसे बात की तो पता चला कि कूफ़े में हालात बहुत बिगड़ चुके हैं। उन्होंने यह भी बताया कि कूफ़े में मुस्लिम बिन अक़ील[अ०] और हानी को शहीद कर दिया गया है। कहने लगे कि अल्लाह की क़सम! इमाम हुसैन[अ०] को यह ख़बर बताने की हमारी हिम्मत नहीं पड़ रही थी इसलिए हम रास्ता काट कर उन्हें बताए बिना ही आगे बढ़ गए थे। बाद में इमाम के उस साथी ने इमाम के पास पहुँचकर कहा कि मेरे पास एक ख़बर है। अगर आप यहीं सुनना चाहते हैं तो ठीक है वरना अगर अकेले में सुनना चाहते हैं तो फिर एक तरफ़ चलकर आप को बता देता हूँ। इमाम हुसैन[अ०] ने कहा कि यहीं सब के सामने बता दो क्योंकि मैं अपने साथियों से कुछ भी छुपाकर नहीं रखना चाहता हूँ। हमारे बीच में कोई बात छुपी हुई नहीं है। हम सब एक हैं। उसने कहा कि कल आपको रास्ते में कूफ़े से आने वाले दो आदमी मिले थे लेकिन वह आपसे मिले बिना ही रास्ता काटकर आगे बढ़ गए थे। बाद में वह दोनों मुझे मिले थे और उन्होंने ही मुझे बताया है कि कूफ़ा हमारे हाथ से निकल गया है और मुस्लिम[अ०] व हानी को शहीद कर दिया गया है। इमाम हुसैन[अ०] ने जैसे ही यह बात सुनी उनकी आँखों से आँसू बहने लगे और फिर यह आयत पढ़ीः

> मोमिनों में ऐसे भी मर्द हैं जिन्होंने अल्लाह से किए वादे को सच कर दिखाया है। उन में से कुछ अपना वक़्त पूरा कर चुके हैं और कुछ

> अपने वक़्त का इंतेज़ार कर रहे हैं और इन लोगों ने अपनी बात में कोई बदलाव नहीं किया है।[1]

इमाम हुसैन[अ०] का यही कमाल है कि इस हाल में भी यह आयत पढ़ी है। वैसे पूरे क़ुरआन में ऐसे हालात के लिए इस से अच्छी दूसरी कोई आयत है भी नहीं।

इमाम हुसैन[अ०] कह रहे थे कि मोमिनों में से कुछ लोगों ने अल्लाह के साथ किया हुआ अपना वादा पूरा कर दिखाया है। यह वह लोग हैं जो अब हमारे बीच में नहीं हैं और शहीद हो गए हैं। कुछ दूसरे लोग अभी इंतेज़ार कर रहे हैं कि देखो! कब हमारा वक़्त आता है। असल में इमाम हुसैन[अ०] कहना यह चाह रहे थे कि हम बस कूफ़ा जाने के लिए ही नहीं निकले थे और अगर ऐसा होता तो कूफ़े के हालात बदल जाने के बाद हमारा काम भी ख़त्म हो गया होता। इसलिए कोई यह न समझ बैठे कि बस कूफ़े वालों के बुलावे की वजह से हम अपना मिशन लेकर आगे बढ़े थे। दूसरी सारी बातों के साथ कूफ़े वाला फ़ैक्टर भी जुड़ गया था जिसकी वजह से हम मक्के से जल्दी-जल्दी कूफ़े के लिए चल दिए थे। हमारा मिशन और हमारा काम तो इससे कहीं बड़ा है। इस बीच मेरे भाई मुस्लिम बिन अक़ील ने शहीद होकर अल्लाह से किया अपना वादा निभा दिया है और उनका काम ख़त्म हो गया है लेकिन अभी हमारा काम पूरा नहीं हुआ है। हमें भी मुस्लिम के इसी शहादत वाले रास्ते पर चलना है।

---

[1] सूरए अहज़ाब/23

हुसैन[अ०] का रास्ता शहादत का रास्ता था

अब अगर इस हिसाब से देखा जाए कि इमाम हुसैन[अ०] एक इंक़ेलाबी थे और अपने डिफ़ेंस में नहीं बल्कि दुश्मन को जड़ से मिटाने के लिए आगे आए थे तो फिर बात बिल्कुल ही बदल जाती है यानी इस हिसाब से इमाम हुसैन[अ०] का मामला उन लोगों से अलग हो जाता है जो डिफ़ेंस में या दूसरों से मदद लेकर मैदान में आते हैं। डिफ़ेंस में आगे आने वालों का मामला उस आदमी की तरह होता है जिसके पास कोई बड़ी अनमोल चीज़ हो और कोई चोर उस चीज़ को चुराने की ताक में लगा हो। उस आदमी की सारी कोशिश बस यही होती है कि कुछ भी हो जाए यह चीज़ चोर के हाथ नहीं लगना चाहिए। वह यह सोचता ही नहीं है कि चोर कमज़ोर है या हट्टा-कट्टा, वह तो बस उससे भिड़ जाता है। भिड़ने के बाद क्या होगा उसे इसका कोई ध्यान नहीं होता क्योंकि उसका सारा ध्यान बस उस अनमोल चीज़ को बचाने में लगा होता है मगर इसके उलट जो आदमी डिफ़ेंस के बजाए चढ़ाई का फ़ैसला करके मैदान में कूदता है वह सिर्फ़ अपने आप को बचाने के लिए मैदान में नहीं आता बल्कि उसका सारा ध्यान इस बात पर होता है कि जैसे भी हो सामने वाले को जड़ से मिटा दो, अब चाहे इसके लिए शहीद ही क्यों न होना पड़े।

यही वजह है कि अम्र बिल मारूफ़ और नही अनिल मुन्कर वाले फ़ैक्टर ने इमाम हुसैन[अ०] के रास्ते को शहीद व शहादत वाला रास्ता बना दिया था।

शहीद का रास्ता सारी बातों से परे होता है। शहीद का रास्ता यानी वह रास्ता जिस पर चलकर कोई आदमी अपने समाज को कोई मैसेज देना चाहता है और अपने

इस मैसेज को वह ख़ून से हटकर किसी भी दूसरी चीज़ से नहीं लिखना चाहता। दुनिया में बहुत सारे लोग बहुत सारी बातें और बहुत सारे मैसेज दूसरों को सुनाने वाले गुज़रे हैं। दुनिया में बहुत सारी जगहों पर पुराने खंडरों की खुदाई होती ही रहती है जिसमें कभी-कभी पुराने राजा-महाराजाओं के ऐसे पत्थर भी मिलते हैं जिन पर लिखा होता हैः मेरा नाम यह है और मैं उसका बेटा हूँ, मैंने उस मुल्क को जीत लिया था, मेरी इतनी उम्र है और इतनी सारी बीवियाँ हैं, मैंने इतनी अय्याशी की है और इतना अत्याचार किया है। पुराने ज़माने में लोग यह सारी बातें पत्थरों पर लिख दिया करते थे कि कहीं मिट न जाएं लेकिन यह बातें उन्हीं पत्थरों पर लिखी रह जाती थीं और दूसरे लोग भी भूल जाया करते थे क्योंकि इस जैसी सारी चीज़ें कभी न कभी हज़ारों मन मिट्टी के नीचे दब ही जाती हैं। हज़ारों साल के बाद जब दोबारा खुदाई होती है तो यह चीज़ें फिर से दुनिया वालों के सामने आती हैं लेकिन खुदाई होने पर भी इन्हें बस इतनी ही इज़्ज़त मिलती है कि इन्हें उठाकर म्युज़ियम में रख दिया जाता है।

इमाम हुसैन[अ0] ने दुनिया को जो मैसेज दिया था उस मैसेज को उन्होंने हवा के ऊपर लिखा था और चूँकि यह मैसेज ख़ून से और लाल रंग से लिखा गया था इसलिए दिलों में बैठ गया। आज दुनिया भर में करोड़ों लोग इमाम हुसैन[अ0] के मैसेज को जानते और समझते हैंः

> मौत को मैं अपने लिए कामयाबी समझता हूँ और ज़ालिमों के साथ बिताई हुई ज़िन्दगी को नीचता।[1]

---

[1] बिहारूल अन्वार, 44/381

अगर आदमी एक नीच ज़िन्दगी बिताए, अगर अत्याचार व ज़ुल्म करता जाए, अगर उसका सारा काम बस खाना-पीना और मौज-मस्ती करना हो और अगर हर तरह की नीचता को अपने सर पर रख ले तो ऐसी ज़िन्दगी से मौत हज़ार बार अच्छी है। यह है शहीद का मैसेज जो वह सारी दुनिया को देना चाहता है।

इमाम हुसैन[अ०] ने शहीद वाला रास्ता चुना था यानी दुश्मन पर चढ़ाई करने वाला रास्ता, न कि अपने बचाव का रास्ता। जिस दिन इमाम हुसैन[अ०] करबला में अपना मैसेज लिख रहे थे उस दिन वहाँ न काग़ज़ था और न क़लम। बस यही हवा का लहराता हुआ पन्ना था लेकिन सवाल यह है कि हवा के लहराते हुए पन्ने पर इमाम हुसैन[अ०] का मैसेज कैसे अभी तक बचा रह गया? इसलिए बचा रह गया क्योंकि यह मैसेज फ़ौरन ही हवा से उतर कर दिलों के अंदर चला गया था। यह मैसेज दिलों में ऐसा बैठा कि अब कभी मिटने वाला नहीं है।

हर साल जैसे ही मोहर्रम आता है तो ऐसा लगता है कि जैसे इमाम हुसैन[अ०] फिर से हमारे बीच आ गए हैं और फिर से कह रहे हैं:

> इस नीच बाप के नीच बेटे ने मेरे सामने दो रास्ते छोड़ दिए हैं: या मौत या ज़िल्लत (नीचता) लेकिन यह नहीं हो सकता कि हम नीचता को गले लगा लें क्योंकि नीचता हम से बहुत दूर है।

इमाम हुसैन[अ०] की यह आवाज़ करबला में तब गूँजी थी जब समुद्र की तरह दूर-दूर तक तीस हज़ार[1] यज़ीदी सिपाही फैले हुए थे जिनमें से हर एक के कंधे पर तलवार और हाथ में भाला दिख रहा था और उधर

---

[1] एक रिवायत के हिसाब से

इमाम हुसैन[अ०] के सारे साथी शहीद हो चुके थे और इमाम बिल्कुल अकेले थे। इमाम हुसैन[अ०] दुश्मन की फ़ौज से कह रहे थे कि तुम्हारे सरदार अब्दुल्लाह इब्ने ज़ियाद ने कहलवाया है कि अब हुसैन[अ०] के पास बस दो ही रास्ते हैंः या तलवार या ज़िल्लत।

भला हुसैन[अ०] और ज़िल्लत का क्या जोड़ है? ज़िल्लत तो हम से कोसों दूर है। मेरा अल्लाह मेरे लिए कभी ज़िल्लत नहीं चाहता है। मेरे रसूल मेरे लिए कभी ज़िल्लत नहीं चाहते हैं। मेरे मरने के बाद दुनिया भर के मोमिन, अच्छे लोग और अच्छी सोच रखने वाले आते रहेंगे और इस बारे में बातें करेंगे। बाद में अच्छे लोग कभी नहीं चाहेंगे कि उनका हुसैन[अ०] ज़िल्लत को गले लगा ले। मैं भला ज़िल्लत को कहाँ अपना सकता हूँ। मैं अली[अ०] की गोद में पला-बढ़ा हूँ, मैं फ़ातिमा ज़हरा[स०] की गोद में बड़ा हुआ हूँ, मैंने ज़हरा[स०] का दूध पिया है और इतना सब कुछ होते हुए भी मैं भला कैसे ज़िल्लत को अपने सीने से लगा सकता हूँ!

यह है दुनिया के लिए शहीद का मैसेज।

इमाम हुसैन[अ०] ने जिस दिन से मदीना छोड़ा था उसी दिन से उनकी पॉलिसी, अटैकिंग पॉलिसी थी। इमाम हुसैन[अ०] ने अपने भाई मोहम्मद बिन हनफ़िया के नाम एक वसिय्यत भी लिखी थी जिसमें लिखा थाः

> मैं दुनिया की मोहब्बत या हुकूमत की लालच में मदीना नहीं छोड़ रहा हूँ और न ही मैं ज़ुल्म करने या बुराईयाँ फैलाने के लिए अपने घर से निकल रहा हूँ बल्कि मैं अपने नाना की उम्मत (मुसलमानों) में आए हुए बिगाड़ को सुधारने के लिए खड़ा हुआ हूँ।

मदीना छोड़ने से पहले ही इमाम हुसैन[अ०] ने अपनी वसिय्यत में दुनिया वालों को साफ़-साफ़ बता दिया था

कि मैं अपनी किसी निजी भलाई के लिए घर से नहीं निकला हूँ बल्कि मैं एक दूसरा काम करने जा रहा हूँ और वह है पटरी से हटे हुए अपने नाना के मुसलमानों को सही रास्ते पर लाना और उनके बीच अम्र बिल मारूफ़ व नहीं अनिल मुन्कर करना यानी उन्हें अच्छे कामों की तरफ़ बुलाना और बुराईयों से रोकना। मोहम्मद बिन हनफ़िया के नाम लिखी इस वसिय्यत में न कहीं बैअत की बात की गई है और न कहीं कूफ़े वालों के ख़तों की बात है बल्कि अभी तो कूफ़े में कोई हलचल मची ही नहीं थी। वह सब तो अभी बिल्कुल चुप बैठे हुए थे। ख़त-वत तो बहुत बाद में आना शुरू हुए थे।

इस रास्ते से यानी शहीद व शहादत के रास्ते से, अटैकिंग पॉलिसी अपनाकर और अपनी क्रांति को चारों ओर फैलाकर इमाम हुसैन[अ०] ने ऐसे-ऐसे काम कर दिए हैं जो इस रास्ते से हटकर हो ही नहीं सकते थे। अगर इमाम हुसैन[अ०] की पॉलिसी, अटैकिंग पॉलिसी होने के बजाए डिफ़ेंसिव पॉलिसी होती तो आशूरा की रात में जब इमाम हुसैन[अ०] अपने साथियों को करबला से चले जाने या रूकने की खुली छूट दे रहे थे -ताकि जिसे भी रूकना है वह सोच-समझकर और समझ-बूझकर रूके- तो उस वक़्त खुली छूट देने के बजाए उनसे कह देना चाहिए था कि यह लोग मेरी जान के दुश्मन हैं, इन्हें तुम से कोई मतलब नहीं है। यह लोग मेरी जान लेना चाहते हैं और मुझ से बैअत करवाना चाहते हैं जिसके मुक़ाबले में मेरी इस्लामी ड्युटी यह है कि मैं यज़ीद की बैअत किसी भी हाल में न करूँ चाहे मेरी जान ही क्यों न चली जाए लेकिन तुम लोगों से क्या मतलब? तुम सब वापस लौट जाओ बल्कि तुम्हारा यहाँ ठहरना इस्लामी हिसाब से बिल्कुल जायज़ नहीं है।

लेकिन इमाम हुसैन[अ०] ने ऐसा नहीं किया क्योंकि इंक़ेलाब, क्रांति और शहीद वाले रास्ते को चुनने वाला इन्सान अपना मैसेज ख़ून से लिखता है। इसलिए उसके मैसेज की किरनें जितनी दूर तक फैल जाएं उतना ही अच्छा होता है। यही वजह है कि जब इमाम हुसैन[अ०] के घर वालों और साथियों ने साबित कर दिया था कि अपने ख़ून की आख़िरी बूँद तक इमाम के साथ रहेंगे तो इमाम ने उनके लिए दुआ की थी कि अल्लाह तुम सब के साथ अच्छा करे! अल्लाह तुम सबको इस का अच्छा बदला दे, अल्लाह...।

अगर ऐसा नहीं था तो फिर इमाम हुसैन[अ०] ने आशूर की रात में हबीब इब्ने मज़ाहिर को बनी असद वालों के पास क्यों भेजा था कि जाओ! अगर हो सके तो कुछ लोगों को समझा-बुझाकर ले आओ। भला गिनती में बनी असद वाले थे ही कितने? अगर हबीब इब्ने मज़ाहिर बनी असद से सौ लोगों को भी ले आते तो तब भी सामने खड़े दुश्मन के तीस हज़ार सिपाहियों के मुक़ाबले में यह सौ लोग क्या कर लेते? क्या हालात को एकदम से बदल देते? कभी नहीं! असल में इमाम हुसैन[अ०] बस इतना चाहते थे कि जिस रास्ते पर वह चल रहे थे यानी शहीद और इंक़ेलाब व क्रांति का रास्ता, उस रास्ते की रौशनी दूर-दूर तक फैल जाए। अपने घर वालों और घर की औरतों व बच्चों को भी इमाम हुसैन[अ०] इसीलिए अपने साथ लेकर आए थे क्योंकि इमाम की शहादत के बाद उनके मैसेज को आगे बढ़ाने वाले यही लोग थे। ख़ुद इमाम हुसैन[अ०] की अपनी भी यही कोशिश थी कि दुश्मन पर एक भरपूर हमला कर दिया जाए ताकि हुसैनियत का जो बीच बोया जा रहा है उससे हमेशा-हमेशा दुनिया वालों को फल मिलते रहें। तभी तो हम देखते हैं कि करबला में इमाम हुसैन[अ०] की

तरफ़ से ऐसे-ऐसे पल और ऐसी बातें देखने में आई हैं कि आदमी बस सोचता ही रह जाता है।

इन में से हर फ़ैक्टर की अपनी ख़ास जगह है।

आइए! अब देखते हैं कि इन तीनों फ़ैक्टर्स यानी बैअत वाले फ़ैक्टर, कूफ़े से आए बुलावे वाले फ़ैक्टर और अम्र बिल मारूफ़ व नही अनिल मुन्कर वाले फ़ैक्टर में से कौन सा दूसरे दो फ़ैक्टर से बड़ा है। वैसे यह तीनों फ़ैक्टर्स आपस में बराबर नहीं हैं। इन तीनों में से जो फ़ैक्टर जितना बड़ा है उसने उसी हिसाब से हुसैनी मिशन और हुसैनी क्रांति को ताक़त दी है। कूफ़े वाला फ़ैक्टर अपने आप में एक बहुत बड़ा फ़ैक्टर है क्योंकि कूफ़े वालों ने अपनी तैयारी का एलान कर दिया था और जिसके नाम पर तैयार हुए थे वह भी एक पल देर किए बिना अपने रास्ते पर निकल पड़ा था लेकिन इस से भी बड़ा फ़ैक्टर बैअत वाला फ़ैक्टर है जिसमें इमाम हुसैन[अ०] से यज़ीद अपनी बैअत मांग रहा था और इमाम ने उसकी बैअत को साफ़ ठुकरा दिया था। बैअत को ठुकराना और अपनी जान दे देना भी अपने आप में एक बहुत बड़ी बात है।

अब तीसरा फ़ैक्टर अम्र बिल मारूफ़ और नही अनिल मुन्कर वाला फ़ैक्टर बचता है। यह तीसरा फ़ैक्टर, दूसरे दोनों फ़ैक्टर से भी बड़ा है। इसीलिए इस तीसरे फ़ैक्टर ने हुसैनी क्रांति को सब से बढ़कर ताक़त दी है और दूर-दूर तक फैला दिया है।

अगर एक तरफ़ अम्र बिल मारूफ़ और नही अनिल मुन्कर वाले फ़ैक्टर ने हुसैनी मिशन को काफ़ी बड़ा बना दिया था और दूर-दूर तक फैला दिया था तो दूसरी तरफ़ ख़ुद इमाम हुसैन[अ०] ने भी अम्र बिल मारूफ़ और नही अनिल मुन्कर जैसी वेल्यु को बहुत ऊँचे दर्जे पर पहुँचा दिया था। इमाम हुसैन[अ०] ने अपनी शहादत से

अम्र बिल मारूफ़ और नही अनिल मुन्कर के सर पर एक ऐसा ताज रख दिया है जो हमेशा–हमेशा चमकता रहेगा।

समाज में हमें ऐसे बहुत से लोग दिखाई पड़ जाते हैं जो कहते हैं कि हम अम्र बिल मारूफ़ और नही अनिल मुन्कर कर रहे हैं यानी दूसरों को अच्छाईयों की तरफ़ बुला रहे हैं और उन्हें बुराईयों से रोक रहे हैं। इमाम हुसैन[अ०] ने भी दूसरों की तरह शुरू में यही बात कही थी कि मैं अपने नाना और अपने बाबा के रास्ते पर चलते हुए अम्र बिल मारूफ़ और नही अनिल मुन्कर करना चाहता हूँ लेकिन फ़र्क़ यह है कि इमाम हुसैन[अ०] ने अपनी शहादत से इस इस्लामी हुक्म का दर्जा बहुत ऊँचा कर दिया है।

इमाम हुसैन[अ०] के बारे में हम बड़े आराम से कह सकते हैं कि इमाम ने इस्लाम के हुक्म अम्र बिल मारूफ़ और नही अनिल मुन्कर का दर्जा बहुत बढ़ा दिया है। यह बात किसी और आम आदमी के बारे में नहीं कह सकते। इमाम हुसैन[अ०] ने इस्लाम के उस हुक्म की इज़्ज़त बढ़ाई है जो मुसलमानों की जान है और यह बात भी ख़ुद क़ुरआन ने कही है कि यह हुक्म मुसलमानों की जान हैः

> तुम सब से अच्छी उम्मत हो जिसे दुनिया वालों के लिए पैदा किया गया है क्योंकि तुम लोगों को अच्छाईयों का हुक्म देते हो और उन्हें बुराईयों से रोकते हो।[1]

इस आयत में क़ुरआन ने इतनी प्यारी बात कही है कि आदमी दाँतों तले अपनी उंगली दबा लेता है। क़ुरआन ने कहा है कि ‘‘तुम सब से अच्छी उम्मत रहे

---

[1] सूरए आले इमरान/110

हो'' यानी लोगों में तुम सब से अच्छे हो लेकिन क्यों सब से अच्छे हो? इसलिए सब से अच्छे हो क्योंकि तुम दूसरों को अच्छे कामों पर उभारते हो और उन्हें बुराईयों से रोकते हो। जब तक तुम इस हुक्म पर चलते रहोगे तब तक तुम दुनिया में सब से अच्छे कहलाए जाते रहोगे। जब इस्लाम आया था तो शुरू-शुरू में मुसलमान ऐसे ही थे।

अब अगर मुसलमान इस्लाम के इस हुक्म पर न चल रहे हों तो क्या वह भी दूसरों के जैसे हो जांएगे? हाँ! बिल्कुल ऐसा ही है क्योंकि अगर वह इस्लाम के इस हुक्म पर न चलें तो वह भी दूसरों की तरह हो जाएंगे लेकिन इमाम हुसैन[अ०] ने शहीद होकर और अपना ख़ून देकर जो काम किया उससे इस हुक्म का दर्जा बहुत बढ़ गया है और इसकी इज़्ज़त बहुत बढ़ गई है।

कभी ऐसा भी होता है कि हम अम्र बिल मारूफ़ और नही अनिल मुन्कर कर रहे होते हैं लेकिन सच्चाई यह होती है कि हम जाने-अन्जाने में इस हुक्म का दर्जा घटा रहे होते हैं। आज कल जब अम्र बिल मारूफ़ व नही अनिल मुन्कर का नाम आता है तो आम लोगों के दिमाग़ में क्या चीज़ आती है? अगर हम यह न भी कहें कि दिमाग़ में ग़लत बातें आती हैं तो इतना तो कह ही सकते हैं कि कुछ बहुत छोटी-छोटी बातें दिमाग़ में आती हैं। वैसे ग़लत बातें भी दिमाग़ में आ जाती हैं।

मगर सही बात यह है कि यह क़ानून तभी अपने जलवे बिखेरता है जब इस क़ानून को पूरी तरह से लागू कर दिया जाए। जैसे अगर किसी आदमी का अम्र बिल मारूफ़ और नही अनिल मुन्कर बस यही हो कि भाई! अपनी उंगली से यह सोने की अगूंठी उतार दो तो यह भी अपनी जगह ठीक है लेकिन यह क्या कि आदमी को

इससे हटकर दूसरी कोई बुराई दिखाई ही न दे। इसी तरह दाढ़ी और कपड़ों का मामला भी है।

अगर समाज में इस्लाम का यह क़ानून इतना हल्का-फुल्का बना दिया जाए तो फिर यही कहना पड़ेगा कि समाज ने इस क़ानून की जान ही निकाल दी है। इसी तरह जैसा अम्र बिल मारूफ़ और नही अनिल मुन्कर सऊदी अरब में होता है वह भी असल में इस इस्लामी क़ानून को मिटा देने के बराबर ही है। हर पुलिस वाले के हाथ में एक हंटर लटका होता है और जैसे ही कोई काबे को या अल्लाह के रसूल[स०] के रौज़े को चूमता है तो फ़ौरन ही उनका हंटर चल पड़ता है। बस यही है उनका अम्र बिल मारूफ़ और नही अनिल मुन्कर।

अब इमाम हुसैन[अ०] को देखिए जिन्होंने इस्लाम के इस हुक्म को इतनी ऊँचाई पर पहुँचा दिया है कि आदमी की आँखें वहाँ तक पहुँच भी नहीं पाती। इमाम हुसैन[अ०] इस्लाम की बताई सारी अच्छाईयों और बुराईयों पर नज़र रखे हुए थे। उस वक़्त इस्लामी जगत में सब से बड़ी बुराई ख़ुद यज़ीद था और इमाम हुसैन[अ०] उसी को जड़ से उखाड़ फैंकने के लिए अपने घर से निकले थे।

> इमाम वह होता है जो दूसरों से पहले अल्लाह की भेजी हुई किताब 'क़ुरआन' के क़ानूनों पर चलकर दिखाता है, समाज में इंसाफ़ फैलाता है और अल्लाह के दीन पर चलने वालों में आगे-आगे होता है।[1]

इमाम हुसैन[अ०] ने यही किया और जो कुछ उनके पास था वह सब कुछ सच्चे दिल से अल्लाह के दीन पर

---

[1] किताब अल-इरशाद/204

लुटा दिया। अपनी जान देकर अम्र बिल मारूफ़ और नही अनिल मुन्कर को ऐसा बना दिया कि उसकी रौशनी आज तक सारी दुनिया को चमका रही है। इमाम हुसैन^अ० ने अपनी जान कुछ ऐसे दी कि ख़ुद मौत को ख़ूबसूरत बना दिया। जिस दिन इमाम हुसैन^अ० ने मदीना छोड़ा था उसी दिन से मौत के अच्छा होने की बात कर रहे थे। अगर देखा जाए तो हर मौत को अच्छा नहीं कहा जा सकता बल्कि बस उसी मौत को अच्छा कहा जा सकता है जो सच्चाई और अच्छाई के रास्ते में आई हो और ऐसी ही मौत के बारे में कहा जा सकता है कि यह मौत औरत के उस ज़ेवर[1] की तरह है जो औरत को ख़ूबसूरत बना देता है। यही वह मौत है जो इन्सान की ख़ूबसूरती को बढ़ा देती है।

[1] आभूषण

आशूरा पर एक नज़र

दुनिया की बहुत सारी सच्चाईयाँ और घटनाएं ऐसी होती हैं जिन्हें उनके ज़माने में जैसा पहचाना और समझना चाहिए वैसा नहीं पहचाना जा सकता। आशूरा भी एक ऐसी ही घटना है। यहाँ तक कि इतिहास के जानकारों का तो यह भी मानना है कि इतिहास की किसी भी घटना को ख़ुद उसके ज़माने में पहचाना और समझा ही नहीं जा सकता। जब एक लम्बा टाइम बीत जाता है और उस घटना से पड़ने वाला हर असर समाज पर पड़ जाता है तब जाकर उस घटना को ठीक से समझा जा सकता है। समाजी हस्तियाँ भी इसी तरह होती हैं क्योंकि बड़ी हस्तियों को ख़ुद उनके वक़्त में पहचान पाना बड़ा कठिन होता है। उनके मरने के दसियों और सेंकड़ों साल के बाद धीरे-धीरे लोग उन्हें समझ पाते हैं और उनकी पर्सनालिटी निखर कर सामने आ पाती है। जो लोग अपनी ज़िन्दगी में अपने लिए कोई जगह बना लेते हैं वह मरने के बाद बड़ी जल्दी भुला दिए जाते हैं मगर इसके उलट ऐसे बड़े लोग जो अपनी ज़िन्दगी में अपने लिए कोई ख़ास जगह नहीं बना पाते वह मरने के बाद धीरे-धीरे दुनिया के सामने निखर

कर आ जाते हैं यानी उनकी ज़िन्दगी में लोग उन्हें नहीं समझ पाते मगर मरने के बाद जब पर्दे हटते हैं तब जाकर लोग उन्हें ठीक से पहचान पाते हैं। अगर एक ही टाइम में जीने वाले दो लोगों को ध्यान में रखा जाए जिनमें से एक अपने इल्म में दूसरे से दस गुना बड़ा हो तो ऐसा भी होता है कि बाद में इतिहास से साबित होता है कि जो दस गुना छोटा था वह उससे कहीं बड़ा था जो दस गुना बड़ा था। इस बात को साबित करने के लिए हमारे पास बहुत सारे नमूने हैं। इसका सब से बड़ा नमूना हज़रत अली[अ०] ही हैं, वह भी ख़ुद अपनी ही ज़बानी।

हज़रत अली[अ०] ने अपने आख़िरी लगभग पैंतालीस घंटों यानी जब से सर पर ज़हर भरी तलवार लगी थी तब से लेकर अपनी आख़िरी साँस तक जो बातें कही थीं उन में से एक यह बात भी है जो बड़ी ही अजीब सी बात हैः

> तुम लोग मुझे मेरे मरने के बाद पहचानोगे और तब जाकर मेरे अंदर छुपी हुई बातों को समझ पाओगे।[1]

यानी तुम लोगों ने अभी मुझे नहीं पहचाना है। थोड़ा सा वक़्त बीत जाने दो। आगे आने वाला वक़्त मुझे पहचानेगा। मेरे अंदर जो छुपी हुई बातें हैं वह आने वाले वक़्त में एक-एक करके खुलेंगीं।

हज़रत अली[अ०] को उनके टाइम में बहुत थोड़े से लोगों से हटकर भला कौन पहचान पाया था? जो लोग हज़रत अली[अ०] को उस ज़माने में ठीक से पहचान पाए थे अगर उनकी गिनती की जाए तो शायद हाथों की उंगलियों से ज़्यादा नहीं होंगे।

---

[1] नहजुल बलाग़ा, ख़ुतबा/149

अल्लाह के रसूल[स०] जब आख़िरी हज से लौट रहे थे तो फ़रमाया थाः

> अल्लाह उस इन्सान के चेहरे को खिला दे जो मेरी कही बातों को सुने और उन्हें संभाल कर रख ले और फिर उन लोगों तक पहुँचा दे जिन्होंने मेरी बातें नहीं सुनी हैं, उन तक पहुँचा दे जो हैं तो इसी ज़माने में मगर यहाँ नहीं हैं या जो बाद में आने वाले हैं। न जाने कितने लोग ऐसे होते हैं जिनके पास बहुत गहरी-गहरी बातें होती हैं मगर वह उन बातों की गहराई तक नहीं पहुँच पाते और न जाने कितने ऐसे भी लोग हैं जो गहरी-गहरी बातों को आगे बढ़ाकर उन लोगों तक पहुँचा देते हैं जो उनसे ज़्यादा समझदार होते हैं।[1]

अल्लाह के रसूल[स०] की इस हदीस का मतलब यह है कि मेरी बातों को संभाल कर रख लो और दूसरों तक भी पहुँचा दो क्योंकि बहुत सारी ऐसी बातें भी हैं जो अभी तुम्हारी समझ में नहीं आ रही हैं लेकिन उन्हीं बातों को जब कोई दूसरा आदमी सुनेगा तो फ़ौरन समझ जाएगा। तुम लोग मेरी हदीसों को बस सुनने, लिखने और सुनाने वाले हो। साथ ही ऐसा भी हो सकता है कि तुम मेरी किसी हदीस को समझ रहे हो मगर जिसे तुम बाद में सुनाओगे वह उसी हदीस को तुम से ज़्यादा अच्छे ढंग से समझ ले। इसलिए मेरी हदीसों और मेरी कही बातों को अगली पीढ़ियों तक पहुँचाना तुम्हारा काम है क्योंकि वह लोग मेरी बातों को कहीं अच्छे ढंग से समझेंगे।

---

[1] अमाली, शेख़ मुफ़ीद, मजलिस/23

हज़रत अली[अ०] ने फ़रमाया था कि तुम लोग मेरे बाद आगे चलकर मुझे समझ पाओगे। अल्लाह के आख़िरी रसूल[अ०] ने भी फ़रमाया था कि आगे चलकर आने वाले लोग मेरी बातों को ज़्यादा अच्छी तरह से समझेंगे। इससे यह बात साबित होती है कि बहुत सारी चीज़ें ऐसी भी हैं जिनकी वेल्यु तब समझ में आती है जब एक लम्बा ज़माना बीत जाता है। आने वाले लोग आते रहते हैं और चीज़ों पर पड़ी हुई पर्तें हटती जाती हैं तब जाकर लोग धीरे-धीरे किसी बात, किसी किताब, किसी आदमी या किसी काम की वेल्यु को ठीक से समझ पाते हैं।

अल्लामा इक़बाल ने एक शेर कहा था और ऐसा लगता है कि जैसे वह शेर हज़रत अली[अ०] की इसी हदीस का ट्रांस्लेशन है जिसमें इमाम ने फ़रमाया था कि तुम मेरे मरने के बाद मुझे समझ पाओगे। अल्लामा इक़बाल ने कहा थाः

چہ بسا شاعرکہ بعد از مرگ زاد

> न जाने कितने शायर ऐसे हैं जो मरने के बाद जन्म लेते हैं।

अल्लामा इक़बाल ने यह बात हर शायर के बारे में नहीं कही है बल्कि उस शायर के बारे में कही है जो अपनी शायरी से दुनिया वालों को कोई मैसेज देना चाहता है जैसे ख़ुद अल्लामा इक़बाल जिनकी अपनी एक सोच थी और एक मैसेज था। इसी तरह फ़ारसी के शायर मौलाना रूमी या हाफ़िज़ शीराज़ी का नाम भी लिया जा सकता है जिन्होंने अपनी शायरी से दुनिया को बहुत कुछ दिया है और कमाल की बात यह है कि इन लोगों की कही हुई बातों को 500 साल बीतने के बाद भी अभी लोग ठीक से नहीं समझ पाते हैं। जैसे हाफ़िज़ शीराज़ी की शायरी पर जब लोग बात करते हैं तो

उनके शेर के हज़ारों मतलब निकाल लेते हैं और अगर नहीं निकाल पाते तो बस वही मतलब या मैसेज नहीं निकाल पाते जो हाफ़िज़ शीराज़ी के दिमाग़ में था। इसीलिए अल्लामा इक़बाल ने कहा था कि न जाने कितने शायर ऐसे हैं जो मरने के बाद जन्म लेते हैं यानी यह वह लोग होते हैं जो अपने पीरियड में जन्म नहीं लेते बल्कि मरने के बाद आगे आने वाले पीरियड में जन्म लेते हैं और तब जाकर लोग उन्हें पहचान पाते हैं।

जिब्रान ख़लील जिब्रान एक बहुत बड़े अरब राइटर हैं। यह अरब ईसाई थे और इनका जन्म लेबनान में हुआ था लेकिन बाद में यह अमेरिका में पले-पढ़े थे। यह इंग्लिश और अरबी दोनों में लिखते थे और साथ ही साथ आर्टिस्ट भी थे। इंग्लिश से बढ़कर इनकी अरबी राइटिंग्स कमाल की हैं। यह ईसाई थे मगर हज़रत अली[अ०] पर जान देते थे।[1] जिब्रान कहते हैं कि पता नहीं ऐसा क्यों होता है कि लोग अपने ज़माने से पहले जन्म ले लेते हैं और हज़रत अली[अ०] उन्हीं लोगों में से हैं जो अपने ज़माने से पहले इस दुनिया में आ गए थे। असल में जिब्रान यह कहना चाहते हैं कि हज़रत अली[अ०] का जन्म उस पीरियड में नहीं होना चाहिए था क्योंकि वह पीरियड हज़रत अली[अ०] का पीरियड था ही नहीं। हज़रत अली[अ०] उस ज़माने के लोगों की सोच और समझ से बहुत ऊपर थे।

लेकिन सही बात वही है जो ख़ुद हज़रत अली[अ०] ने कही है कि ऐसे लोग जिस पीरियड में भी जन्म लेंगे यही कहा जाएगा कि उन्होंने अपने पीरियड से पहले

---

[1] अरब ईसाईयों में हज़रत अली[अ०] के चाहने वाले बहुत सारे हैं जिनमें से एक मीख़ाईल नईमा हैं। एक और जार्ज जुरडेक हैं जिनकी हज़रत अली[अ०] के बारे में लिखी किताब ''अलीः इंसाफ़ की आवाज़'' बहुत मशहूर हुई है।

जन्म ले लिया है। हज़रत अली[अ०] अगर आज भी जन्म ले लें तो सच्चाई यही होगी कि आज भी वह अपने ज़माने से पहले ही जन्म लेंगे। कहने का मतलब यह है कि इस तरह के लोग जिस पीरियड में भी जन्म ले लें वह पीरियड उनके हिसाब से छोटा होता है और यह उससे कहीं बड़े होते हैं जिसकी वजह से उस ज़माने के लोग इन्हें समझ और पहचान ही नहीं पाते। इसी लिए जब इन्हें मरे हुए सालों साल बीत जाते हैं और पर्दे हट जाते हैं तब जाकर लोग इन्हें समझ पाते हैं यानी मरने के बाद इन लोगों का जन्म होता है बल्कि यूँ कहना ज़्यादा ठीक होगा कि मरने के सालों साल के बाद यह दोबारा जन्म लेते हैं।

बड़े लोग बाद में ठीक से पहचाने जाते हैं

हर मैदान में ऐसा ही है। अभी जिस ईरानी शायर हाफ़िज़ शीराज़ी के बारे में हम बात कर रहे थे क्या उन्हें उनके ज़माने के लोग इतना जानते और पहचानते थे जितना आज जानते हैं। बिल्कुल नहीं! उनकी ज़िन्दगी में तो किसी ने उनकी सारी शायरी को एक जगह इकट्ठा करके छापा भी नहीं था। ख़ुद हाफ़िज़ शीराज़ी ने भी यह काम नहीं किया था। हाफ़िज़ शीराज़ी एक बहुत पढ़े-लिखे इन्सान होने के साथ-साथ एक शायर भी थे और यही वजह है कि वह दूसरे शायरों जैसे सादी या फ़िरदौसी से अलग थे। यह दोनों भी फ़ारसी के बड़े शायर हैं लेकिन यह दोनों बस शायर थे और इनका काम बस शायरी था लेकिन हाफ़िज़ शीराज़ी का काम शायरी करना नहीं था बल्कि वह एक बहुत पढ़े-लिखे इन्सान थे जो पढ़ाया भी करते थे और किताबों में भी लगे रहते थे। उनके मरने के बाद जब उनके एक दोस्त ने उनकी सारी शायरी को एक जगह इकट्ठा किया था तो उस किताब की भूमिका में उन किताबों के नाम भी

लिखे थे जो हाफ़िज़ शीराज़ी पढ़ाया करते थे। वह क़ुरआन के हाफ़िज़ भी थे और क़ुरआन की तफ़सीर भी पढ़ाया करते थे।

इसी तरह बड़े इस्लामी फ़िलास्फ़र मुल्ला सदरा शीराज़ी भी हैं। उन्हें इस दुनिया से गए लगभग 350 साल[1] हो चुके हैं और अब जाकर लोग उन्हें पहचान रहे हैं। उनके मरने के 150 साल बाद तक तो उनकी किताबें कहीं पढ़ाई भी नहीं जाती थीं। बस उनके कुछ शार्गिद[2] थे और वह उन्हीं को पढ़ाया करते थे लेकिन जब उनके मरने के बाद दूसरे फ़िलास्फ़र आए और उन्होंने मुल्ला सदरा शीराज़ी की लिखी हुई किताबों पर ध्यान देना शुरू किया तो तब जाकर धीरे-धीरे समझ में आया कि मुल्ला सदरा तो बहुत बड़े फ़िलास्फ़र थे। अब इतने सालों बाद जाकर युरोप और पश्चिमी दुनिया वाले उनकी बातों की गहराई को समझ पाए हैं।[3]

यह सारे नमूने इस बात का सुबूत हैं कि ऐसे बहुत सारे लोग इस दुनिया में आते हैं जो अपने पीरियड में अपनी वह जगह नहीं बना पाते जो उन्हें मिलना चाहिए लेकिन जब वक़्त का समुद्र बहता है और किसी छुपे ख़ज़ाने की तरह वह दुनिया वालों के सामने आते हैं तब जाकर लोग उन्हें समझ पाते हैं।

---

[1] शहीद मुतह्हरी ने यह बात अब से लगभग 40 साल पहले कही थी जिसका मतलब यह है कि मुल्ला सदरा को इस दुनिया से गए हुए अब लगभग 400 साल हो गए हैं।

[2] शिष्य

[3] ऊपर हाफ़िज़ शीराज़ी और मुल्ला सदरा का नाम हज़रत अली[अ०] के फ़ौरन बाद आया है लेकिन इसका यह मतलब बिल्कुल नहीं है कि यह दोनों भी इमाम के बराबर हैं। इन दोनों की मिसालें इसलिए दी गई हैं क्योंकि इन जैसे लोगों को भी इनके ज़माने के लोग नहीं पहचान पाए थे बल्कि हज़रत अली[अ०] की तरह बाद में आने वाले लोग पहचान सके हैं।

हमारे ज़माने में इसका एक नमूना सैय्यद जमालुद्दीन असद-आबादी हैं। आज हालत यह है कि दुनिया में कहीं न कहीं सैय्यद जमालुद्दीन के ऊपर हफ़्ते में एक आर्टिकिल लिखा जा रहा है। आज इस्लामी जगत उन्हें सलाम करता दिखाई पड़ता है। ईरानी कहते हैं कि सैय्यद जमालुद्दीन ईरानी हैं, अफ़ग़ानिस्तान वाले कहते हैं कि अफ़ग़ानी हैं और तुर्की वाले कहते हैं कि तुर्की हैं क्योंकि उनकी आँख तुर्की में ही बंद हुई थी लेकिन आख़िर में जीत अफ़ग़ानिस्तान वालों की ही हुई और वह ऐसे कि अफ़ग़ानिस्तान वाले सैय्यद जमालुद्दीन की हड्डियाँ तुर्की से अफ़ग़ानिस्तान ले आए थे। जबकि सच्चाई यह है कि ख़ुद सैय्यद जमालुद्दीन अपने आप को न ईरानी समझते थे न अफ़ग़ानी और न ही तुर्की या अरब। उन्होंने अपने आप को किसी एक जगह से बांधकर रखा ही नहीं था। सैय्यद जमालुद्दीन कितने बड़े इन्सान थे इसका अंदाज़ा इस बात से लगाया जा सकता है कि आज तक मिस्र वाले इस बात पर ख़ुश होते हैं कि सैय्यद जमालुद्दीन उनके यहाँ भी गए थे। मिस्र वालों ने उन्हें वह इज़्ज़त दी थी जो उन्हें मिलना चाहिए थी। यहीं सैय्यद जमालुद्दीन के पास मोहम्मद अब्दोह जैसे उलमा आकर जुड़े थे और फिर सब ने मिलकर एक पार्टी बनाई थी। यही वह ज़मीन है जहाँ सैय्यद जमालुद्दीन अपनी ऊँचाईयों पर पहुँच गए थे।

आज हालत यह है कि सब का यही कहना और मानना है कि सैय्यद जमालुद्दीन हमारे हैं लेकिन ख़ुद जब वह ज़िन्दा थे और लोगों के बीच में थे तो वह जहाँ जाते थे सब उनसे दूर भागते थे। यहाँ तक कि जब वह ईरान गए थे तो वहाँ भी उनके साथ बहुत बुरा हुआ था और उन्हें ईरान से निकाल दिए जाने का सरकारी आर्डर आ गया था जिसके बाद वह काफ़ी दिनों

तक तेहरान के पास रै शहर में हज़रत अब्दुल अज़ीम[अ०] के रौज़े में छुप-छुपाकर रहते रहे थे मगर कड़कड़ाती ठंड में जब बड़ी भयानक बर्फ़ गिर रही थी पुलिस वाले वहाँ भी आ गए और उन्हें खींचते हुए बाहर ले गए और एक गधे पर बिठाकर उनकी टांगें गधे के पेट से बांध दी थीं। फिर उसी बर्फ़ीली हवा और जमा देने वाली ठंड में उन्हें ईरान के पश्चिमी बार्डर -हमेदान व किरमानशाह- के रास्ते बाहर कर दिया था। यह सब हो रहा था लेकिन किसी भी आदमी के मुँह से एक लफ़्ज़[1] नहीं निकला था। मगर आज हर एक कहता दिखाई दे रहा है कि सैय्यद जमालुद्दीन हमारे थे या मैंने सैय्यद जमालुद्दीन के बारे में एक आर्टिकिल पढ़ा है।

सैय्यद जमालुद्दीन के वक़्त में लोग उनको समझ ही नहीं पाए थे। अब यह अलग बात है कि मिस्र में कुछ खुली सोच रखने वाले उनके साथ हो गए थे लेकिन बाद में उन्हें वहाँ से भी निकाल कर इंग्लेंड भेज दिया गया था। फिर बहुत दिनों तक हिन्दुस्तान और बाद में नजफ़ में भी रहे। वैसे उनकी पढ़ाई के शुरू के चार साल नजफ़ में ही बीते थे। सैय्यद जमालुद्दीन जिस कल्चर को लेकर चल रहे थे और फैलाना चाहते थे वह इस्लामी कल्चर ही था और इसी वजह से इस्लामी इतिहास में उनका नाम इतनी इज़्ज़त से लिया जाता है।

आज जब देखते हैं तो समझ में आता है कि मुस्लिम जगत में उठने वाली एक के बाद एक क्रांतियाँ सैय्यद जमालुद्दीन के शुरू किए हुए कामों की वजह से ही आई हैं। वैसे इस बारे में अभी भी बहुत सारी बातों पर पर्दा पड़ा हुआ है। उन्होंने जो पौधे लगाए थे उन में से कोई एक भी उनके ज़माने में नहीं फला लेकिन उनके

---

[1] शब्द

मरने के बाद सारे पौधे घने पेड़ों में बदल गए हैं। मिस्र में उठने वाली क्रांति, हिन्दुस्तान में आने वाली क्रांति और ईरान में तम्बाकू क्रांति भी उन्हीं की कोशिशों का रिज़ल्ट है। इसी तरह ईराक़ में आज़ादी की क्रांति भी उन्हीं का लगाया हुआ पौधा था। आज जब हम इतिहास को खंगालते हैं तो हमें दिखाई पड़ता है कि इन क्रांतियों का झंडा उठाने वाले लोग सैय्यद जमालुद्दीन के दोस्तों में से रहे हैं।

इसी लिए ऊपर कहा गया है कि दुनिया में आने वाले बड़े लोग जिस पीरियड में भी जन्म लेंगे उस पीरियड में उन्हें पूरी तरह से समझा ही नहीं जा सकता। बाद में आने वाले वक़्त में आने वाली पीढ़ियाँ दुनिया से जा चुके बड़े लोगों को ठीक से पहचान पाती हैं और उनकी इज़्ज़त करती हैं।

ऐतिहासिक घटनाएं भी बाद में ही ठीक से समझ में आ पाती हैं

इसी तरह ऐतिहासिक घटनाएं भी हैं। किसी भी बड़ी घटना को उसके अपने पीरियड में ठीक से समझ पाना बड़ा कठिन काम है। कभी-कभी कोई घटना बड़ी छोटी सी दिखाई पड़ती है लेकिन सालों बीतने के बाद जब उस घटना पर पड़ी पर्तें हटने लगती हैं तो समझ में आता है कि वह तो कोई बहुत बड़ी घटना थी।

आशूरा ऐसी ही एक घटना है। जैसे बड़े लोगों को उनके मरने के सालों साल बाद दुनिया समझ पाती है वैसे ही आशूरा भी है कि जितना वक़्त बीतता जा रहा है उतनी ही आशूरा की रौशनी भी फैलती जा रही है। किसी भी बड़ी समाजी घटना को समझने के लिए एक

बहुत लम्बा वक़्त चाहिए बल्कि कुछ घटनाओं को समझने के लिए तो हज़ारों साल भी लग जाते हैं। आशूरा ऐसी ही एक घटना है।

इमाम हुसैन[अ०] ने अपनी वसिय्यत अपने भाई मोहम्मद हनफ़िया के नाम लिखी थी। मोहम्मद बिन हनफ़िया बीमार थे और ऐसे बीमार थे कि उनके हाथों को लक़वा हो गया था यानी दोनों हाथ बेकार थे। इसलिए वह इमाम हुसैन[स०] के साथ नहीं जा सके थे। इमाम हुसैन[अ०] ने यह वसिय्यत शायद उस वक़्त लिखी थी जब वह मदीने से निकल रहे थे। वसिय्यत लिखकर इमाम हुसैन[अ०] ने मोहम्मद हनफ़िया को दे दी थी। वैसे इमाम हुसैन[अ०] की यह वसिय्यत वैसी वसिय्यत नहीं है जैसी हम लोग लिखते हैं बल्कि इमाम ने इसमें यह बताया था कि मैं मदीने से क्यों जा रहा हूँ, किस मिशन पर जा रहा हूँ और क्या करना चाहता हूँ। इस वसिय्यत में इमाम हुसैन[अ०] ने पहले यह लिखा थाः

> मैं दुनिया की मोहब्बत या हुकूमत की लालच में नहीं निकल रहा हूँ और न ही मैं ज़ुल्म करने या बुराईयाँ फैलाने के लिए अपना घर छोड़कर जा रहा हूँ बल्कि मैं अपने नाना के बनाए इस्लामी समाज में आए हुए बिगाड़ को सुधारने के लिए उठा हूँ।

इमाम हुसैन[अ०] जानते थे कि मेरे मरने के बाद तरह-तरह की बातें बनाई जाएंगी और इसीलिए इमाम ने सारी बातों का जवाब पहले ही दे दिया था। इमाम हुसैन[अ०] जानते थे कि बाद में लोग कहेंगे कि हुसैन[अ०] दुनिया की लालच में पड़ गए थे, वह हुकूमत की लालच में घर से निकले थे, हुसैन[अ०] बुराईयाँ फैलाने और समाज को बिगाड़ने के लिए उठे थे या हुसैन[अ०] ज़ालिम थे लेकिन एक-एक करके इमाम ने इन सारी बातों का

जवाब पहले ही दे दिया था कि मैं बस अपने नाना के मुसलमानों और इस्लामी समाज में आए बिगाड़ को ठीक करने जा रहा हूँ।

इसके बाद फ़रमायाः

> मैं अम्र बिल मारूफ़ और नही अनिल मुन्कर करने और अपने नाना और अपने बाबा के रास्ते पर चलने जा रहा हूँ।[1]

जिस ज़माने में इमाम हुसैन[अ०] ने यह दूसरी वाली बात कही थी उस वक़्त यह एक बहुत बड़ी बात थी। जब इमाम हुसैन[अ०] ने कहा कि मैं अम्र बिल मारूफ़ और नही अनिल मुन्कर करना चाहता हूँ तो साथ में यह क्यों कहा कि मैं अपने नाना और अपने बाबा के रास्ते पर चलना चाहता हूँ? हो सकता है कि कोई कहे कि अगर सिर्फ़ अम्र बिल मारूफ़ और नही अनिल मुन्कर वाली बात ही कह देते तो भी बहुत था। क्या इमाम हुसैन[अ०] के नाना और बाबा का रास्ता अम्र बिल मारूफ़ और नही अनिल मुन्कर से हटकर था? इसका जवाब यह है कि हाँ! कुछ ऐसा ही था जिसके लिए हमें इतिहास को खंगालना होगा।

तीसरे ख़लीफ़ा का पीरियड

हम जानते हैं कि जब दूसरे ख़लीफ़ा पर तलवार का हमला हुआ और उन्हें लगने लगा कि अब दुनिया से जाने का वक़्त आ गया है तो वह अपने बाद के लिए एक बिदअत छोड़ गए यानी एक ऐसा काम कर गए जो न अल्लाह के रसूल[स०] ने किया था और रसूल[स०] के बाद

---

[1] मक़तलुल हुसैन/156

पहले ख़लीफ़ा ने और जो न हम शियों के अक़ीदे के हिसाब से ठीक था। वैसे अहले सुन्नत की किताबें भी शियों के अक़ीदे के ही सही होने के सुबूत देती हैं, यह अलग बात है कि वह इस पर चलते नहीं हैं। बहरहाल दूसरे ख़लीफ़ा ने नया काम यह किया कि ख़िलाफ़त हज़रत अली[अ०] के बजाए किसी और को दे दी जबकि अल्लाह के रसूल[स०] अपनी ज़िन्दगी में ही हज़रत अली[अ०] को अपने बाद के लिए ख़लीफ़ा बनाकर गए थे। ऐसा नहीं है कि अल्लाह के रसूल[स०] ने अपने बाद के लिए किसी को ख़लीफ़ा नहीं बनाया था जैसा कि अहले सुन्नत कहते हैं। उनका मानना है कि यह काम मुसलमानों का है कि वह अपना ख़लीफ़ा ख़ुद ही चुनें। यानी दूसरे ख़लीफ़ा ने न उस फ़ार्मूले को माना जिसे आज सारे अहले सुन्नत मानते हैं और न ही वह काम किया जो पहले ख़लीफ़ा ने किया था क्योंकि जब मुसलमानों के पहले ख़लीफ़ा का आख़िरी वक़्त आया तो उन्होंने अपने बाद के लिए एक आदमी को तय कर दिया जो ख़ुद दूसरे ख़लीफ़ा थे। पहले ख़लीफ़ा ने जो काम किया था वह न शियों के अक़ीदे से मेल खाता था और न अहले सुन्नत के अक़ीदे से। आगे चलकर दूसरे ख़लीफ़ा ने जो काम किया वह तो न शियों के अक़ीदे से मेल खाता था और न ही अहले सुन्नत के और न ही पहले ख़लीफ़ा के काम से। वह बिल्कुल ही एक नया काम था और वह यह कि रसूल[स०] के छः बड़े सहाबियों को मिलाकर एक कमैटी बना दी थी जिसका नाम ‘‘शूरा’’ रखा था। लेकिन वह कमैटी आज की तरह डेमॉक्रेसी वाली कमैटी नहीं थी बल्कि अरिस्टोक्रेसी वाली थी यानी सोसाइटी के छः बड़े लोगों को मिलाकर एक कमैटी बना दी थी और इन छः लोगों को चुना भी ख़ूद ही था। हज़रत अली[अ०] को तो अलग रख ही नहीं

सकते थे इसलिए पहले वह थे, दूसरे उस्मान, तीसरे तलहा, चौथे ज़ुबैर, पाँचवे साद वक़्क़ास और छटे अब्दुर्रहमान बिन औफ़। उन दिनों यह छः लोग ही अल्लाह के रसूल[अ०] के सब से बड़े सहाबियों में माने जाते थे। आमतौर पर कमैटियों के मेम्बर तीन, पाँच, सात या नौ... होते हैं ताकि अगर किसी मामले में सब की राए ली जाए और दोनों राए बराबर हो जाएं तो कम से कम एक मेम्बर ऐसा हो जिसकी राए जिधर भी चली जाए वही जीत जाए। वहाँ मामला यह था कि अगर तीन लोग एक तरफ़ हो गए और तीन दूसरी तरफ़ तो क़ानून यह बनाया था कि जिधर उस्मान होंगे जीत भी उधर वालों की ही होगी। अब सवाल यह है कि जब कमैटी बना दी है तो फिर आप क्यों लोगों का फ़ैसला कर रहे हैं, ख़ुद लोगों को ही फ़ैसला करने दीजिए।

कमैटी कुछ ऐसे ही बनाई गई थी कि ख़ुद दूसरे ख़लीफ़ा भी जानते थे कि कुछ भी हो जाए यह ख़िलाफ़त अब उस्मान को ही मिलेगी क्योंकि हज़रत अली[अ०] को ज़्यादा से ज़्यादा तीन वोट ही मिल सकते थे और तीन वोटों में उस्मान बिल्कुल न होते क्योंकि वह तो ख़ुद उनके मुक़ाबले में खड़े हुए थे। इसलिए पहले से ही पता था कि उस्मान ही जीतेंगे। दूसरे ख़लीफ़ा के हिसाब से हज़रत अली[अ०] के पास दो वोट थेः एक ख़ुद उनका अपना और दूसरा ज़ुबैर का क्योंकि ज़ुबैर उस वक़्त हज़रत अली[अ०] के ही साथ थे। अगर तीसरा हो सकता था तो वह अब्दुर्रहमान बिन औफ़ का था और उसे मिलाकर भी कुल तीन ही होते।

इसीलिए हज़रत अली[अ०] ने नहजुल बलाग़ा में फ़रमाया हैः

> उस आदमी ने अपने दिल में पल रही मेरी दुश्मनी की वजह से अल्लाह का रास्ता छोड़ दिया था और उस दूसरे आदमी ने अपने ख़ानदान और क़ौम वालों का साथ देते हुए अपना वोट उधर दे दिया था।[1]

दूसरे ख़लीफ़ा को पहले ही से सब कुछ पता था कि क्या होने वाला है। बहरहाल कहानी यह बनी कि ज़ुबैर ने कहा कि मैं अपना वोट अली[अ०] को देता हूँ, तलहा ने कहा कि मैं उस्मान को देता हूँ और साद ने कहा कि मैं भी उस्मान के साथ हूँ। अब अब्दुर्रहमान का नम्बर था और इन हालात में उनका वोट बड़ा अनमोल हो गया था लेकिन वह चाह रहे थे कि किसी के भी बुरे न बनें जिसकी वजह से कोई रिज़ल्ट नहीं मिल पा रहा था। इसके बाद दूसरे ख़लीफ़ा ने कहा कि यह सब तीन दिन तक एक साथ एक कमरे में बंद रहें, बैठें, बातचीत करें और मिलकर आपस में एक राए बनाएं। यह लोग नमाज़ और ज़रूरी कामों से हटकर दूसरे किसी भी काम के लिए इस कमरे से बाहर नहीं आ सकते। तीन दिन के बाद यह लोग बाहर आए। बाहर हर आदमी सोच रहा था कि देखो! अब क्या होता है? बनी उमय्या, उस्मान के साथ थे। बनी हाशिम और अबूज़र व अम्मार जैसे अल्लाह के रसूल[स०] के बहुत सारे अच्छे सहाबी हज़रत अली[अ०] के साथ थे। इन में से हर एक यही चाह रहा था कि बस किसी तरह से हज़रत अली[अ०] को ज़्यादा राए मिल जाएं लेकिन हज़रत अली[अ०] अपने ख़ास साथियों से यह बात पहले ही कह चुके थे कि मुझे पता है कि आख़िर में क्या होगा मगर न मैं अपने आप को इस पूरे मामले से अलग कर सकता हूँ और न मुझे

---

[1] नहजुल बलाग़ा, तीसरा ख़ुतबा (ख़ुतब-ए-शिक़शिक़िया)

अलग होना चाहिए क्योंकि मैं अगर ख़ुद से अलग हो गया तो यही सब बाद में कहेंगे कि अली[अ०] तो ख़लीफ़ा बनना चाहते ही नहीं थे वरना सब की राए उन्हीं के लिए होती।

अब्दुर्रेहमान पहले हज़रत अली[अ०] के पास आया और बोला कि ऐ अली! अगर आप मेरी एक शर्त मान लें तो मैं आपके साथ हूँ और वह शर्त यह है कि आपको क़ुरआन व सुन्नत के साथ-साथ पिछले दोनों ख़लीफ़ाओं की पॉलिसी पर भी चलना होगा।

यानी क़ुरआन व सुन्नत के साथ एक चीज़ और जोड़ दीः पिछले दोनों ख़लीफ़ाओं की पॉलिसी। असल में अब्दुर्रेहमान यह कहना चाह रहे थे कि आपको पिछले दोनों ख़लीफ़ा -अबू बक्र व उमर- की पॉलिसी पर चलना होगा।

ज़रा देखिए! हज़रत अली[अ०] इतिहास के कैसे अजीब से मोड़ पर खड़े हैं? जो भी इस बात को सुनेगा वह अली[अ०] से यही कहेगा कि ऐ अली! हुकूमत का मामला है। इस्लामी हुकूमत एक ऐतिहासिक मोड़ पर आ गई है। अब हुकूमत या तो बनी उमय्या के हाथों में जाएगी या आपके, इसलिए चाहे दिल से न कहिए मगर ज़बान से तो अब्दुर्रेहमान की बात मान ही लीजिए लेकिन हज़रत अली[अ०] ने कहा कि मैं बस क़ुरआन व सुन्नत और अपनी बनाई हुई पॉलिसी पर चलूँगा।

इतना सुनकर अब्दुर्रेहमान उस्मान के पास पहुँच गए और वहाँ भी वही सवाल दोहराया। उस्मान ने कहा कि ठीक है (जबकि उन्होंने न क़ुरआन व सुन्नत के हिसाब से हुकूमत की और न पिछले दोनों ख़लीफ़ाओं की पॉलिसी अपनाई)। अब्दुर्रेहमान को पता था कि हज़रत अली[अ०] अपनी बात से नहीं फिरेंगे और पिछले

ख़लीफ़ाओं की पॉलिसी पर चलने वाली बात को कभी नहीं मानेंगे।

अब इन हालात में हज़रत अली[अ०] के पास ख़िलाफ़त व हुकूमत को छोड़ देने से हटकर दूसरा और कोई रास्ता नहीं था। अब्दुर्रेहमान ने तीन बार हज़रत अली[अ०] से वही सवाल किया था लेकिन हर बार हज़रत अली[अ०] ने पहले वाला जवाब ही दिया था कि मैं क़ुरआन व सुन्नत और अपनी बनाई हुई पॉलिसी पर हुकूमत करूँगा। जिसके बाद अब्दुर्रेहमान ने भी कह दिया कि फिर तो इसका मतलब यही है कि आप पिछले दोनों ख़लीफ़ाओं की पॉलिसी पर बिल्कुल नहीं चलेंगे। इसलिए मैं आपका साथ देने के बजाए उस्मान का साथ दूँगा।

अब्दुर्रेहमान की राए उस्मान को मिल गई और इस तरह से तीसरा ख़लीफ़ा उस्मान को मान लिया गया लेकिन जैसे ही हुकूमत उनके हाथ में आई वैसे ही उन्होंने अम्मार व अबूज़र जैसे लोगों को जेल ही में नहीं डाला बल्कि शहर से बाहर भी निकाल दिया था, कोड़े मारे गए थे और अम्मारे यासिर को तो इतना मारा गया था कि उनकी आँतें भी उतर आई थीं। हालात इतने बदल गए थे कि धीरे-धीरे उस्मान ने अब्दुर्रेहमान से भी दूर होना शुरू कर दिया था। यहाँ तक कि अब्दुर्रेहमान ने अपने आख़िरी पाँच सालों में उस्मान से बात करना ही बंद कर दिया था और यह भी कह दिया था कि लोगो! मैं इस बात पर बिल्कुल राज़ी नहीं हूँ कि मेरे मरने के बाद मेरी नमाज़े जनाज़ा उस्मान पढ़ाएं।

अब हो सकता है कि किसी के दिमाग़ में यह सवाल आ जाए कि हज़रत अली[अ०] ने अब्दुर्रेहमान को वैसा जवाब क्यों दिया था? हज़रत अली[अ०] को कह देना चाहिए था कि मैं क़ुरआन और सुन्नत के हिसाब से हुकूमत करने पर तैयार हूँ। बस इतना ही कहते और

आगे वाली बात न कहते कि पिछले दोनों ख़लीफ़ाओं की पॉलिसी पर चलने के बजाए अपनी बनाई पॉलिसी पर चलूँगा। साफ़-साफ़ कह देते कि अल्लाह की किताब और रसूल की सुन्नत से हटकर हमें किसी और पॉलिसी पर चलने की कोई ज़रूरत ही नहीं है लेकिन हज़रत अली[अ०] भी तीसरी चीज़ यानी अपनी पॉलिसी वाली बात को मान रहे थे। बस फ़र्क़ यह था कि जिस तरह से अब्दुर्रेहमान कह रहे थे उस तरह से नहीं मान रहे थे।

असल में मामला यह था कि जिस तीसरे रास्ते पर पिछले दोनों ख़लीफ़ा चल रहे थे वह ग़लत था। हज़रत अली[अ०] क़ुरआन और सुन्नत के साथ-साथ जिस तीसरे रास्ते पर चलने की बात कर रहे थे वह अल्लाह के रसूल[स०] का रास्ता था और हज़रत अली[अ०] इसी रास्ते पर चलना चाहते थे। यह वही चीज़ है जिसे इस्लामी लीडरशिप कहते हैं।

लीडरशिप पॉलिसी या 'सीरत''

क़ुरआन और रसूल[स०] की सुन्नत अल्लाह का क़ानून है। यह बात बिल्कुल सामने की है कि अगर समाज किसी आइडियॉलोजी पर चलना चाहता है तो उस समाज के लीडर की ड्युटी बनती है कि वह उस समाज को सब से पहले उस आइडियॉलोजी के क़ानूनों का आदी बनाए और वह भी इस तरह कि समाज का हर आदमी उन क़ानूनों की इज़्ज़त करते हुए उन पर चले। अल्लाह ने इस्लाम के क़ानून क़ुरआन और सुन्नत में बताए हैं लेकिन क़ुरआन और सुन्नत बस एक क़ानून है। कोई भी क़ानून हो वह तभी किसी काम आ सकता है जब वह समाज में लागू भी हो जाए। क़ुरआन व सुन्नत में

बताए हुए क़ानूनों को लागू करने और लोगों को उन क़ानूनों पर चलवाने को ''सीरत'' कहते हैं।

लीडर उस आदमी को कहते हैं जो लोगों को अपने पीछे-पीछे चलाने की आर्ट जानता हो। अब हो सकता है कि कोई ऐसा भी लीडर पैदा हो जाए जो लोगों को आगे बढ़ाने के बजाए पीछे ले जाए। ऐसा लीडर, लीडर नहीं हो सकता। सही मायनी में लीडर बस वही हो सकता है जो अपने समाज को आगे बढ़ा सके और उसे रास्ता दिखा सके। इस बात को सभी लोग मानते हैं। अगर कोई सवाल है तो बस यह कि समाज को आगे बढ़ाने और रास्ता दिखाने के लिए कौन सी पॉलिसी अपनाई जाए या किस टैक्निक को चुना जाए।

अल्लाह ने अपने रसूल[स०] को इस दुनिया में बहुत सारे काम देकर भेजा था। वह नबी भी थे और रसूल भी यानी अल्लाह का मैसेज लाने और पहुँचाने वाले।

अल्लाह का मैसेज पहुँचाने के हिसाब से रसूल[स०] बस एक पैग़म्बर यानी मैसेज पहुँचाने वाले हैं। उनके दिल पर क़ुरआन की आयतें उतरती थीं और उन आयतों को वह लोगों को सुनाया करते थेः

> उस अल्लाह ने मक्के वालों में एक रसूल भेजा है जो उन्हीं में से है ताकि उनके सामने क़ुरआन की आयतें पढ़े।[1]

अल्लाह के भेजे हुए रसूल का एक काम अल्लाह के दीन को लोगों के बीच पहुँचाना और फैलाना है। अल्लाह का रसूल अल्लाह के बनाए हुए क़ानून और हुक्म लोगों को बताता है और जो कुछ वह नहीं जानते वह सब उन्हें सिखाता है।

---

[1] सूरए जुमा/2

रसूल का दूसरा काम यह हैः लोग बहुत सारी बातों में आपस में झगड़ बैठते हैं जिसके बाद नौबत कोर्ट और इंसाफ़[1] तक पहुँच जाती है। इस का बस एक ही हल है कि क़ानून के साथ-साथ कुछ ऐसे लोग भी हों जो इंसाफ़ के साथ फ़ैसला भी कर सकते हों यानी सही फ़ैसला करके आपसी झगड़ों का निपटारा कर सकते हों। इस काम को अरबी में ''क़ज़ावत'' कहते हैं और जो आदमी यह काम करता है उसे ''क़ाज़ी'' (न्यायधीश) कहते हैं। इस्लाम में क़ाज़ी होना एक बहुत बड़ी बात है यानी हर आदमी क़ाज़ी नहीं बन सकता बल्कि क़ाज़ी बस वही आदमी बन सकता है जो फ़क़ीह, मुजतहिद और आदिल हो। हदीस में है कि क़ाज़ी सिर्फ़ इमाम बन सकता है या जिसे इमाम क़ाज़ी बनाए वह बन सकता है।[2] क़ाज़ी बनना और लोगों के बीच फ़ैसला करना रसूल का दूसरा काम है। रसूले इस्लाम[स०] सिर्फ़ अल्लाह का क़ानून और दीन लाने वाले नहीं थे बल्कि अल्लाह ने उन्हें यह हक़ (कंट्रोल) भी दिया था कि वह अल्लाह के बनाए हुए क़ानून पर चलते हुए लोगों के बीच फ़ैसले व इंसाफ़ भी करेंः

> आपके पालने वाले की क़सम! यह तब तक ईमान वाले नहीं बन सकते जब तक कि यह अपने झगड़ों में आपको क़ाज़ी न बना लें और फिर जब आप फ़ैसला कर दें तो फिर अपने दिल में किसी भी तरह की तंगी का एहसास न करें और आपके फ़ैसले को आँख बंद करके मान लें।[3]

---

[1] न्याय

[2] मन ला यह-ज़ुरूहुल फ़क़ीह, 3/5

[3] सूरए निसा/65

रसूल का तीसरा काम मुसलमानों को रास्ता दिखाना और मुस्लिम जगत की रहबरी (लीडरशिप) करना है। रसूल, रसूल होने के साथ-साथ इमाम भी होता है। उधर से इमाम, रसूल नहीं होता है लेकिन रसूल, इमाम होता है। बहुत से लोग समझते हैं कि रिसालत और इमामत एक आदमी के अंदर आ ही नहीं सकतीं। इमामत यानी रहबरी (लीडरशिप) और इमाम यानी रहबर (लीडर)। जब किसी रसूल का दर्जा बढ़ जाता है तो उसे रसूल होने के साथ-साथ इमाम भी बना दिया जाता है। रसूले इस्लाम[स०] के ज़माने में हज़रत अली[अ०] भी थे लेकिन मुसलमानों का इमाम, रहबर व लीडर कौन था? सीधी सी बात है कि ख़ुद रसूले इस्लाम[स०] ही थे, न कि हज़रत अली[अ०]।

अल्लाह अपने बनाए इमाम व रहबर को भेजता है तो कुछ अधिकार भी देकर भेजता है और ऐसा वह इसलिए करता है क्योंकि क़ानूनों को अलग-अलग हालात और अलग-अलग शर्तों के साथ लागू करना हर आदमी के बस का काम नहीं है।

अब अगर रसूल किसी आदमी को कोई ड्युटी देना चाहें -जैसे मक्के की जीत के बाद वहाँ गर्वनर बनाना या किसी जंग के लिए किसी को कमांडर बनाना -तो ज़रूरी नहीं है कि जिब्राईल आकर कहें कि ऐ अल्लाह के रसूल! उस आदमी को यह ड्युटी दे दीजिए क्योंकि अल्लाह ने पहले ही यह अधिकार अपने रसूल को दे दिया है कि वह अपने इमाम (लीडर) होने की वजह से जिसे सही समझें ड्युटी दे दें लेकिन शर्त यह है कि जिसे भी कोई ड्युटी दें, क़ानून के अंदर रहकर दें। यह काम बिल्कुल उसी पॉलिसी या स्ट्रेटजी के जैसा ही है जैसा किसी फ़ौज का कमांडर करता है कि वह अपनी समझ-बूझ के हिसाब से फ़ैसले करता है।

अब आइए! देखते हैं कि अब्दुर्रेहमान के सवाल और उसके मुक़ाबले में हज़रत अली[अ०] के जवाब का क्या मतलब है? अब्दुर्रेहमान ने हज़रत अली[अ०] से कहा था कि आपको मेरी यह शर्त मानना होगी कि आप क़ुरआन और सुन्नत के हिसाब से हुकूमत करेंगे लेकिन पॉलिसी वह अपनाएंगे जो पिछले दोनों ख़लीफ़ाओं की थी। अगर हज़रत अली[अ०] पिछले दोनों ख़लीफ़ाओं की पॉलिसी पर चलने वाली बात को मान लेते तो फिर हज़रत अली[अ०] को भी वही करना होता जो पहले वालों ने किया था। इसका एक नमूना यह है कि दूसरे ख़लीफ़ा ने अपनी हुकूमत में मुता (Temporary Marriage) को हराम कर दिया था जबकि अल्लाह के रसूल[स०] ने इसे हलाल किया था। अगर हज़रत अली[अ०] अब्दुर्रेहमान की बात मान लेते तो उन्हें भी कहना पड़ता कि मैं भी ''मुता'' को हराम करता हूँ। इसी तरह दूसरे ख़लीफ़ा ने अल्लाह का बनाया वह क़ानून बदल दिया था जिसके हिसाब से बैतुल-माल (सरकारी ख़ज़ाना) मुसलमानों में बराबर से बांटा जाता था, हज़रत अली[अ०] को भी यही करना पड़ता। यानी हज़रत अली[अ०] को वह सारे काम करने पड़ते जो दूसरे ख़लीफ़ा ने अपनी हुकूमत में शुरू किए थे क्योंकि उनका मानना था कि हुकूमत मेरे हाथों में है इसलिए क़ानून भी मैं ही बनाऊँगा।

वह लोग चाहते थे कि हज़रत अली[अ०] को पिछले दोनों ख़लीफ़ाओं की बनाई हुई पॉलिसियों में बांध दिया जाए और यह ऐसा काम था जो हज़रत अली[अ०] कर ही नहीं सकते थे क्योंकि अगर वह भी इस रास्ते पर चल पड़ते तो उन्हें भी अपने लिए तीसरे ख़लीफ़ा की तरह अपना एक 'टाइप' बनाना पड़ता और जैसे दिल चाहता वैसे करते, जिसको चाहते हंटर मारते, जिसको चाहते सज़ा देते और जिसको चाहते जेल में बंद करा देते

(तौबा-तौबा)। असल में हज़रत अली[अ०] बस क़ुरआन और सुन्नत के हिसाब से हुकूमत करना चाहते थे इसलिए वह पिछले दोनों ख़लीफ़ाओं की पॉलिसी पर चल ही नहीं सकते थे। तभी तो हज़रत अली[अ०] ने साफ़-साफ़ कह दिया था कि मैं इस पॉलिसी पर नहीं चल सकता और सिर्फ़ इसी वजह से उन्होंने अब्दुर्रेहमान की बात को ठुकरा दिया था।

इस तरह यह बात साफ़ है कि इमामत (लीडरशिप), क़ुरआन और सुन्नत से हटकर एक अलग चीज़ है क्योंकि क़ुरआन व सुन्नत का मतलब है क़ानून, जबकि रहबरी (लीडरशिप) क़ानून को नहीं कहते हैं बल्कि लीडरशिप का मतलब होता है कि लोगों को कैसे रास्ता दिखाया जाए और अलग-अलग हालात में कैसे फ़ैसले लिए जाएं।

अब आइए! मोहम्मद बिन हनफ़िया के नाम इमाम हुसैन[अ०] की वसिय्यत की तरफ़ पलटते हैं जिसमें इमाम ने लिखा थाः

> मैं अम्र बिल मारूफ़ और नही अनिल मुन्कर करने और अपने नाना और अपने बाबा के रास्ते पर चलने जा रहा हूँ।[1]

इमाम अली[अ०] और अब्दुर्रेहमान के बीच जो बातें हुई थीं और उनके बारे में ऊपर जो कुछ हम ने कहा है उस से इमाम हुसैन[अ०] की वसिय्यत का यह टुकड़ा पूरी तरह से समझ में आ जाता है कि इस में इमाम हुसैन[अ०] क्या कहना चाहते थे।

जिस दौर में इमाम हुसैन[अ०] ने अपनी यह वसिय्यत लिखी थी उस वक़्त अम्र बिल मारूफ़ और नही अनिल मुन्कर से हटकर एक दूसरी चीज़ भी थी और वह यह

---

[1] मक़तलुल हुसैन/156

थीः सन् 60 हिजरी का वक़्त है। सन् 11 हिजरी में रसूले इस्लाम[स०] इस दुनिया से चले गए थे और तब से अभी तक लगभग 50 साल बीत चुके हैं। इन 50 सालों में 4 साल कुछ महीने यानी सन् 36 हिजरी से सन् 41 हिजरी तक इमाम अली[अ०] की हुकूमत थी। इमाम अली[अ०] की हुकूमत के इस पीरियड में हुकूमत की पॉलिसी रसूले इस्लाम[स०] वाली पॉलिसी पर वापस आ गई थी। फिर भी पिछले तीनों ख़लीफ़ाओं की हुकूमतों में जो पॉलिसियाँ बनाई गई थीं उनकी वजह से इमाम अली[अ०] बहुत सारी जगहों पर अल्लाह के रसूल[स०] वाली पॉलिसी को लागू ही नहीं कर पा रहे थे। जब इमाम अली[अ०] ने उस पॉलिसी को लागू करना चाहा तो ख़ुद लोग ही हुकूमत से भिड़ गए थे। जैसे जब हज़रत अली[अ०] ने कहा कि तुम लोग जो यह रमज़ान की रातों में जमाअत के साथ नमाज़ पढ़ते हो, यह बिदअत है। इसे छोड़ दो। लोग कहने लगे कि कैसे छोड़ दें क्योंकि यह काम तो हम दूसरे ख़लीफ़ा की हुकूमत से करते आ रहे हैं यानी पिछले 30 सालों से और फिर चीख़ने-चिल्लाने लगे कि हाय उमर! हाय उमर! आप कहाँ हैं? देखिए! आपकी सुन्नत को मिटाया जा रहा है।

इसी तरह जब इमाम अली[अ०] ने क़ाज़ी शुरैह को उसकी पोस्ट से हटाना चाहा तो लोग फिर चिल्ला उठे कि अरे! यह आप क्या कर रहे हैं? आप कूफ़ा शहर के एक ऐसे क़ाज़ी को हटाना चाहते हैं जो पिछले बीस सालों से इंसाफ़ कर रहा है और जिसे दूसरे ख़लीफ़ा ने क़ाज़ी बनाया था।

यह उस दौर के हालात थे और अब पचास साल बीत चुके थे जिसमें क़ुरआन व सुन्नत को छोड़ दिया गया था और हुकूमत की पॉलिसी पूरी तरह से बदल दी गई थी।

इमाम हुसैन[अ०] ने अपनी वसिय्यत में इसी बात की तरफ़ इशारा करते हुए कहा थाः

> ... मैं अपने नाना और अपने बाबा के रास्ते पर चलने जा रहा हूँ।

यानी मेरी पॉलिसी वही पॉलिसी होगी जो मेरे बाबा और मेरे नाना की थी। न मैं पिछले तीनों ख़लीफ़ाओं में से किसी की पॉलिसी पर चलूँगा और न ही किसी दूसरे की।

यही वह बात है जिससे यह भी समझ में आ जाता है कि इमाम हुसैन[अ०] आशूरा के रास्ते ऊपर बताए तीनों फ़ैक्टर्स यानी अम्र बिल मारूफ़ व नही अनिल मुन्कर, यज़ीद की बैअत को ठुकराने और कूफ़े वालों के बुलाने पर कूफ़ा जाने के साथ-साथ कुछ दूसरे काम भी करना चाहते थे जिनमें से एक यह भी था कि इमाम हुसैन[अ०] अपने बाबा और अपने नाना की सीरत (पॉलिसी) को दोबारा शुरू करना चाहते थे।

ईद की नमाज़

अब्बासी ख़लीफ़ा मामून की सारी कोशिश यह थी कि जैसे भी हो इमाम अली रज़ा[अ०] उसकी विलायते अहदी को मान लें यानी उसके क्राउंस प्रिंस बन जाएं लेकिन इमाम किसी भी तरह उसकी यह बात मानने को तैयार नहीं थे। आख़िर में मामून ने ज़बरदस्ती की तो इमाम को मानना पड़ा मगर इमाम ने एक शर्त लगा दी थी जिसकी वजह से मामून की बात को मानना भी न मानने जैसा ही हो गया था जिससे मामून ख़ूब बदनाम हुआ।

सालों साल से यह ख़लीफ़ा ही थे जो ईद की नमाज़ पढ़ाते आ रहे थे। चूँकि रसूले इस्लाम[स०] भी ईद की नमाज़ पढ़ाते थे इसलिए यह सब भी पढ़ाते आ रहे थे लेकिन धीरे-धीरे नमाज़ पढ़ाने का ढंग बदल गया था। अभी हम जो बात ऊपर कर रहे थे यह उसका बहुत अच्छा नमूना है क्योंकि ईद की नमाज़ पढ़ना और पढ़ाना क़ुरआन व सुन्नत का क़ानून है लेकिन नमाज़ कैसे पढ़ी जाए यह सीरत है। बहरहाल धीरे-धीरे ख़लीफ़ाओं के दरबार ईरानी व रोमी राजाओं के दरबारों की तरह बड़े शानदार बन गए थे। ख़लीफ़ाओं और उनके दरबारियों के कपड़े भी सोने-चाँदी से सजे हुए हो गए थे। अब जब ख़लीफ़ा ईद की नमाज़ पढ़ाने आते थे तो उसी राजाओं वाली शान के साथ आते थे, एक ऐसे घोड़े पर सवार होकर जिसके गले में सोने या चाँदी से जड़ा हुआ पट्टा होता था, ख़लीफ़ा के हाथ में सोने की तलवार होती थी और पीछे-पीछे फ़ौज भी चल रही होती थी जैसे किसी से जंग करने जा रहे हों। इसी तरह मस्जिद तक जाते थे, दो रकअत नमाज़ पढ़ते थे और वापस आ जाते थे।

एक बार मामून ने इमाम अली रज़ा[अ०] से कहा कि मैं चाहता हूँ कि इस साल ईद की नमाज़ आप पढ़ाइए। इमाम ने कहा कि मैंने पहले ही यह शर्त लगा दी थी कि मेरा बस नाम होगा, हुकूमत से जुड़े सारे काम तुम करोगे और मैं कोई काम नहीं करूँगा। मामून ने कहा कि नहीं! इस साल नमाज़ आपको ही पढ़ाना है। क्या आप नमाज़ भी नहीं पढ़ाना चाहते? कम से कम नमाज़ तो पढ़ा ही दीजिए। इतना सुनकर इमाम रज़ा[अ०] ने एक ऐसी बात कही जो बिल्कुल वैसी ही बात थी जो बैअत वाले मामले में इमाम अली[अ०] और इमाम हुसैन[अ०] ने कही थी। इमाम ने कहा कि ठीक है, मैं नमाज़ तो पढ़ा

दूँगा लेकिन अपने बाबा और अपने नाना के ढंग से पढाऊँगा, न कि तुम्हारे ढंग से। मामून बहुत चालाक था लेकिन यहाँ धोखा खा गया। बोला कि ठीक है। आप जैसे नमाज़ पढ़ाना चाहें पढ़ा दीजिए। वह चाह रहा था कि कम से कम कोई एक काम तो इमाम रज़ा[अ०] को थमा दे जिससे लोगों को भी यह लगने लगे कि इमाम दिल से मामून के साथ हैं।

ईद के दिन इमाम रज़ा[अ०] ने अपने साथियों से कहा कि बिल्कुल सादे कपड़े पहनो, पैरों से जूतियाँ उतार दो, अबा के दामन और आस्तीनों को ऊपर चढ़ा लो और जो कुछ मैं पढ़ता जाऊँ तुम लोग भी वही दोहराते जाओ। हम नमाज़ पढ़ने जा रहे हैं इसलिए अपनी हालत ऐसी बना लो जैसे कोई बंदा अपने अल्लाह की बारगाह में जाता है। तुम्हारा पूरा ध्यान अल्लाह की तरफ़ होना चाहिए। दुआएं पढ़ते रहो और अल्लाह को अपने सामने रखो। फिर इमाम ने अपना अमामा ठीक वैसे बांधा जैसे रसूले इस्लाम[स०] बांधते थे। कपड़े भी वैसे ही पहने जैसे रसूले इस्लाम[स०] पहनते थे। हाथ में छड़ी भी रसूले इस्लाम[स०] की तरह ही थामी। जूतियाँ उतार कर नंगे पाँव हो गए और अपने घर से इस हाल में बाहर निकले कि ज़बान से कहते जा रहे थेः

> अल्लाहु अकबर, अल्लाहु अकबर अला मा हदाना व लहुश्शुक्र अला मा औलाना।

सालों साल बीत गए थे और लोगों ने यह आवाज़ नहीं सुनी थी। जो लोग इमाम के साथ-साथ चल रहे थे जब उन्होंने इमाम का यह हाल देखा कि इमाम पूरी तरह से अपने पालने वाले से जुड़े हुए हैं और आँखों से आँसू बह रहे हैं तो उन से भी नहीं रहा गया और वह भी इमाम के साथ चिल्ला-चिल्लाकर कहने लगेः

अल्लाहु अकबर, अल्लाहु अकबर अला मा हदाना व लहुश्शुक्र अला मा औलाना।

इमाम रज़ा[अ०] पढ़ते जा रहे थे और दूसरे सब लोग दोहराते जा रहे थे। यहाँ तक कि इमाम और दूसरे सब लोग मामून के दरबार के सामने पहुँच गए। दरबार के सामने पहुँचे तो जोश में आवाज़ें और भी ऊँची हो गईं। मामून ने अपने कमांडरों और दूसरे बड़े दरबारियों से पहले ही कह रखा था कि जाओ! इमाम रज़ा[अ०] के साथ जाकर ईद की नमाज़ पढ़ो। इन दरबारियों ने तो यह सब देखा ही नहीं था। वह तो पिछले ख़लीफ़ाओं को देखते आ रहे थे और इसीलिए शाही कपड़े पहने हुए थे। मंहगे-मंहगे घोड़ों पर सवार और सोने से जड़ी हुई तलवारें हाथों में लिए हुए दरबार के फाटक पर खड़े इमाम रज़ा[अ०] के आने का इंतेज़ार कर रहे थे कि इमाम भी इसी शाही रंग-ढंग में जुलूस लेकर आएंगे लेकिन इमाम इसके उलट एक दूसरे ही ढंग से आ रहे थे। जब मामून के कमांडरों और दरबारियों ने यह सब देखा तो उनके दिल भी पसीज गए और वह भी अपने शाही कपड़े और सोने-चाँदी की तलवारें फैंक कर अपने-अपने घोड़ों से नीचे कूद पड़े। इतिहास में लिखा है कि इमाम रज़ा[अ०] की तरह वह भी नंगे पाँव होना चाह रहे थे लेकिन वह सब फ़ौजी बूट पहने हुए थे जो आसानी से नहीं उतर पाते हैं इसलिए हर एक छुरी ढूँढता फिर रहा था कि कहीं से छुरी मिल जाए और अपने जूते काटकर फैंक दे। बहरहाल वह सब भी इमाम के साथ-साथ हो लिए। अब ''अल्लाहु अकबर'' की आवाज़ें बहुत दूर-दूर तक जा रही थीं और पूरा मर्व शहर इन आवाज़ों को सुन रहा था। लोग चौंक-चौंक कर अपनी छतों पर चढ़कर देख रहे थे कि क्या हो गया है और फिर इमाम के साथ जुड़ते जा रहे थे। जैसे ही इमाम रज़ा[अ०] कहते

थे ''अल्लाहु अकबर'' वैसे ही पूरा शहर एक साथ कहता था ''अल्लाहु अकबर''। अभी सब लोग शहर के दरवाज़े से बाहर निकले भी नहीं थे कि मामून के जासूसों ने उसे ख़बर कर दी कि अगर ऐसा ही होता रहा तो हुकूमत आपके हाथ से निकल जाएगी। फ़ौरन मामून ने इमाम रज़ा[अ०] के पास अपने आदमी भेज दिए और उनसे कहा कि जाकर इमाम से कह दो कि वापस चले आएं। नमाज़ पढ़ाने की ज़रूरत नहीं है।

इसे कहते हैं ''सीरत''। अब्बासी ख़लीफ़ा भी क़ुरआन व सुन्नत के हुक्म को ही मान रहा था क्योंकि ईद की नमाज़ क़ुरआन का हुक्म है लेकिन यही नमाज़ एक ऐसे ढंग से पढ़ी जा रही थी कि इस नमाज़ की जान ही निकाल दी गई थी। इसीलिए इमाम रज़ा[अ०] ने मामून से कहा था कि मैं नमाज़ तो पढ़ा दूँगा लेकिन अपने बाबा और अपने नाना के ढंग से पढाऊँगा, तुम्हारे ढंग से नहीं।

इमाम हुसैन[अ०] के पीरियड में इस्लामी समाज की लीडरशिप

इमाम हुसैन[अ०] के ज़माने में इस्लामी लीडरशिप का रंग-ढंग बहुत बदल गया था बल्कि यूँ कहें कि ख़िलाफ़त पटरी से ही उतर गई थी। अगर एक साथ दो लाइनें खींची जाएं और उनमें से एक लाइन रत्ती बराबर भी टेढ़ी हो जाए तो वह टेढ़ी लाइन जितनी भी आगे जाएगी उतनी ही दूसरी वाली सीधी लाइन से दूर होती चली जाएगी। इमाम हुसैन[अ०] का दौर आते-आते कुछ ऐसा ही हुआ था यानी साठ साल पहले अल्लाह के रसूल[स०] के ज़माने में जब लोग इस्लामी समाज को

देखना चाहते थे तो उन्हें रसूले इस्लाम[स०] वाला समाज दिखता था? यहाँ तक कि पहले और दूसरे ख़लीफ़ा के दौर में भी बहुत ज़्यादा बदलाव नहीं आया था लेकिन तीसरे ख़लीफ़ा के आते ही सब कुछ एक दम से बदल गया था। यहाँ भी मामला यह नहीं था कि मुसलमानों का बनाया हुआ ख़लीफ़ा क़ुरआन व हदीस के ख़िलाफ़ हुकूमत कर रहा था बल्कि दिक़्क़त हुकूमत की पॉलिसी और काम करने के ढंग में थी। अबूज़र और अमीरे शाम मुआविया का झगड़ा भी काफ़ी हद तक काम करने के ढंग पर ही था।

अब इमाम हुसैन[अ०] के ज़माने में अगर कोई इस्लामी समाज और मुसलमानों के ख़लीफ़ा को देखना चाहे तो उसे सब कुछ बदला हुआ दिखाई पड़ता है? वह बूढ़े लोग जिन्होंने अल्लाह के रसूल[स०] का वक़्त देखा है, यहाँ तक कि वह लोग भी जिन्होंने पहले और दूसरे ख़लीफ़ा का ज़माना देखा है और ख़ासकर जिन लोगों ने हज़रत अली[अ०] की हुकूमत का ज़माना देखा है, अब जब यह लोग इस्लामी हुकूमत में आते हैं तो इन्हें 30-32 साल का एक जवान दिखाई पड़ता है। एक ऐसा जवान जो बहुत लम्बा है, कहते हैं कि दिखने में ठीक था लेकिन उसके चेहरे पर धब्बे पड़े हुए थे, एक ऐसा जवान जो शायरी भी करता था और शेर भी काफ़ी अच्छे कहता था लेकिन उसकी सारी शायरी या तो अपने महबूब की तारीफ़ में होती थी या फिर कुत्तों, घोड़ों और बंदरों की तारीफ़ में। उसका महल इतना बड़ा और इतना शानदार था कि सात दरवाज़े पार करने के बाद ही कोई उसके पास पहुँच सकता था। अगर कोई उससे मिलना चाहता था तो महल के पहरेदार उसका रास्ता रोकते थे और उसकी तलाशी लेते थे। अगर वहाँ से सही-सलामत गुज़र जाता था तो आगे चलकर कई जगह

पूछताछ और चेकिंग होती थी। तब जाकर वह महल के अंदर पहुँच पाता था। वहाँ जाकर वह देखता था कि एक जवान सोने-चाँदी से बने एक शानदार तख़्त पर बैठा है और उसके आसपास सोने-चाँदी से बने पायों वाली कुर्सियाँ रखी हुई हैं जिन पर उसके दरबारी बैठे होते थे। ऐसी ही कुर्सियाँ आने वाले मेहमानों और दूसरे मुल्कों के बड़े लोगों के लिए भी रखी होती थीं। इतना ही नहीं बल्कि उस जवान के साथ बराबर में एक बंदर भी बैठा होता था और यह बंदर भी सोने से जड़े हुए शानदार कपड़े पहने होता था। यही वह जवान था जो अपने आप को अल्लाह के रसूल[स०] का ख़लीफ़ा बताता था। इस्लामी हुकूमत इसी के हाथ में थी। अब इस्लामी क़ानूनों को वही लागू कर रहा था। वह जुमे की नमाज़ भी पढ़ाता था और लोगों के बीच ख़ुतबे भी दिया करता था।

हुसैनी क्रांति की ऊँचाई

यही सारी बातें वह हैं जिन्हें पढ़ने के बाद यह बात भी अपने आप समझ में आ जाती है कि हुसैनी क्रांति इस्लामी जगत के लिए कितनी भलाई वाली थी। इस क्रांति ने वह सारे पर्दे चीर-फाड़ दिए थे जो पिछले 50 सालों में इस्लामी हुकूमत और इस्लामी क़ानून पर डाल दिए गए थे। उस पीरियड में आज की तरह मीडिया था ही नहीं, इसलिए एक शहर वालों को दूसरे शहर की कोई ख़बर हो ही नहीं पाती थी। जैसे मदीने वालों को पता नहीं होता था कि शाम (सीरिया) में क्या चल रहा है। आना-जाना भी कम ही होता था और जो लोग मदीने से सीरिया जाते भी थे उन्हें यह पता लग

ही नहीं पाता था कि यज़ीद की सरकारी मशीनरी क्या कर रही है और कैसी है।

हालात को इसी बात से समझा जा सकता है कि करबला में इमाम हुसैन[अ०] की शहादत के बाद जब यह ख़बर मदीने पहुँची थी तो लोग भौंचक्के रह गए थे और आपस में कह रहे थे कि भला यह कैसे हो सकता है कि अल्लाह के रसूल[स०] के बेटे को मार दिया जाए। मदीने वालों ने फ़ौरन एक कमैटी बनाई और उसे शाम भेजा कि वहाँ जाकर हालात का पता लगाए और वापस आकर बताए कि क्या सही है और क्या ग़लत। जब कमैटी वाले शाम से वापस आए तो मदीने वालों ने कहा कि जल्दी से बताओ! शाम में क्या देखकर आ रहे हो? उन लोगों ने कहा कि बस एक छोटी सी बात यह समझ लो कि जब तक हम वहाँ थे बस यही दुआ करते रहे थे कि ऐ अल्लाह! कहीं ऐसा न हो कि आसमान से पत्थर बरसने लगें और हम यहीं मर जाएं। यह भी जान लो कि हम एक ऐसे आदमी के महल को देखकर आ रहे हैं जिसका काम बस शराब पीना और कुत्तों व बंदरों से खेलना है। जो दिन-दिन भर सितार बजाता रहता है। म्युज़िक जिसका मनपसंद काम है। औरतों, यहाँ तक कि महरम[1] औरतों के साथ ज़िना करना[2] उसकी आदत है।

जब मदीने वालों ने यह सारी बातें सुनीं तो मदीने में भी क्रांति आ गई और बड़ी ज़बरदस्त क्रांति जिसमें बहुत ख़ून बहा और ख़ूब ख़ून-ख़राबा हुआ। यह सब करबला के बाद ही हो पाया था यानी लोग अपनी गहरी नींद से इमाम हुसैन[अ०] की शहादत के बाद ही जाग पाए थे।

---

[1] महरम उन औरतों को कहते हैं जिनके साथ शादी नहीं की जा सकती जैसे माँ, बहन या बेटी वग़ैरा

[2] Adultry

इमाम हुसैन[अ०] हमेशा यही कहते रहे थेः

> अगर इस्लाम का ठेकेदार यज़ीद जैसा आदमी बन बैठे तो फिर इस्लाम की फ़ातिहा पढ़ देना चाहिए।[1]

लेकिन तब कोई इस बात को नहीं समझ रहा था लेकिन अब जबकि इमाम हुसैन[अ०] शहीद हो गए थे तो उनके ख़ून और उनकी शहादत ने सारे इस्लामी जगत को गहरी नींद से जगा दिया था। लोग अपने-अपने घरों से निकल आए थे और अपनी आँखों से सब कुछ देखने के बाद हर एक बस यही कह रहा था कि जो कुछ हम जगमगाते सूरज की रौशनी में नहीं देख पा रहे थे वह हुसैन[अ०] ने अंधेरे में भी देख लिया था। अब हर एक यही कह रहा था कि हुसैन[अ०] ही ठीक कहते थे।

---

[1] मक़तले मुक़र्रम/146

हुसैनी नारे

पुराने ज़माने की जंगें आज की जंगों की तरह नहीं होती थीं। पहले जंगे आमने-सामने होती थीं और दोनों तरफ़ के सिपाही एक-एक करके आते जाते थे और लड़ते थे। जंग के मैदान में दोनों फ़ौजें एक-दूसरे के समाने खड़ी होती थीं और सारे आदमी हथियारों से लैस, सब के सब चेहरे पर लोहे की टोपी पहने हुए, पूरी तरह से बख़्तरबंद, पैरों में घुटनों तक बूट पहने हुए, सब के हाथों में तलवार, सब के हाथों में ढाल और सब का चेहरा नीचे से नाँक तक और ऊपर भवों तक ढका होता था यानी अगर किसी आदमी को पहचानना हो तो उसे बस उसकी आँखों से ही पहचाना जा सकता था। इसी वजह से जंग के मैदान में लोगों को पहचान पाना बहुत कठिन काम होता था। जंग के मैदान से बाहर हर आदमी का सर व चेहरा खुला होता है और सब अलग-अलग रंगों के कपड़े पहने हुए होते हैं जिसकी वजह से लोगों को दूर से ही पहचान लिया जाता है लेकिन पुराने ज़माने में जंग के मैदानों में जहाँ किसी फ़ौज के सिपाहियों को आपस में एक-दूसरे को पहचान

पाना बहुत कठिन होता था वहीं सामने खड़ी फ़ौज के सिपाहियों को पहचानना भी एक बहुत बड़ा काम था। इसी लिए इस बात का डर भी बना रहता था कि कहीं ऐसा न हो कि कोई सिपाही अपने ही किसी आदमी को मार डाले।

इस तरह से जंगें हुआ करती थीं जिसकी वजह से हर फ़ौज अपने लिए एक ख़ास शिआर (नारा) चुन लेती थी। इस काम के लिए हर फ़ौज अपने लिए कोई शेर या कोई जुमला (वाक्य) अपना लेती थी और जंग के बीच में उसी को दोहराती रहती थी ताकि दोनों फ़ौजों और उनके सिपाहियों को आसानी से पहचाना जा सके और एक दूसरे से अलग किया जा सके। इस काम का कम से कम इतना तो फ़ाएदा था ही कि ग़ल्ती से कोई अपने ही किसी साथी पर हमला नहीं करता था।[1]

कभी-कभी यह नारे एक काम और भी करते थे और वह यह कि जब कोई फ़ौजी जंग के मैदान में जाता था तो अपनी फ़ौज के नारे के साथ-साथ ऐसे शेर भी पढ़ता था जो सामने वाली फ़ौज को उस फ़ौजी के बारे में काफ़ी कुछ बता देते थे। अरबों का मिज़ाज शायरी वाला मिज़ाज होता है और शायरी करना उनके लिए बड़ा आसान काम है। यह अरबी ज़बान[2] का कमाल है। यह फ़ौजी जब मैदान में लड़ने के लिए जाते थे तो ज़्यादातर लोग शायरी में ही ख़ुद को पहचनवाते थे या अगर सामने वाली फ़ौज में से किसी को लड़ने के लिए बुलाते थे तो उसे भी शायरी करके ही बुलाते थे। इसके उलट उधर से जब कोई उसका जवाब देता था कि हाँ! मैं आ रहा हूँ और तुम से लड़ने के लिए तैयार हूँ

---

[1] उर्दू में शिआर, नारे को कहते हैं।

[2] भाषा

तो वह भी उसी के ढंग में शायरी करके उसका जवाब देता था। वैसे यह थोड़ा कठिन काम होता था।

जंगे ख़न्दक़ में अल्लाह के रसूल[स०] ने मदीने के चारों ओर ख़न्दक़ (गहरा गड्ढा) खोदने का हुक्म दिया था ताकि दुश्मन कहीं से भी मदीने के अंदर न आ सके। फिर भी दुश्मन के कुछ सिपाही अपने घोड़ों को कुदाकर उस ख़न्दक़ के दूसरी तरफ़ भी पहुँच गए थे जिनमें से एक अम्र बिन अब्दवद भी था जिसकी बहादुरी का डंका हर जगह बजता था। अगर कहीं बहादुरी की बात आती थी तो सब से पहले लोग उसी का नाम लेते थे। जब अम्र बिन अब्दवद ख़न्दक़ को फंलाग कर मुसलमान सिपाहियों के सामने आ गया तो उसने आते ही चिल्लाकर कहा कि क्या तुम्हारे बीच में कोई मर्द है? क्या तुम्हारे बीच में कोई मर्द है?

किसी ने कोई जवाब नहीं दिया क्योंकि सब ही उसे पहचानते थे। किसी एक आदमी में भी इतनी हिम्मत नहीं थी कि कह सकता कि हाँ! मैं लड़ने के लिए आ रहा हूँ। हर आदमी जानता था कि अम्र से जंग करने का मतलब बस एक ही होता है कि अपनी जान से हाथ धो बैठो। जब कहीं से कोई आवाज़ नहीं आई तो फिर एक जवान उठा और उसने कहा कि ऐ अल्लाह के रसूल! क्या मैं इस से जंग करने के लिए जा सकता हूँ? रसूल[स०] ने फ़रमाया कि ऐ अली! बैठ जाओ। अम्र बिन अब्दवद दोबारा चिल्लाया कि अरे! क्या तुम में कोई मर्द नहीं है? किसी ने कोई जवाब नहीं दिया और इस बार भी हज़रत अली[अ०] ही उठे। अल्लाह के रसूल[स०] ने हज़रत अली[अ०] को फिर से बिठा दिया। उसने तीसरी बार फिर कहा कि अरे! किसी में हिम्मत हो तो मुझ से लड़ने के लिए आए और इस बार भी हज़रत अली[अ०] ही उठे। दूसरा कोई नहीं उठा। मुसलमानों की इज़्ज़त

मिट्टी में मिल रही थी। किसी ने कहा कि ऐ अल्लाह के रसूल! इससे जंग करने के लिए हम में से कोई इसलिए नहीं जा रहा है क्योंकि इससे कोई जंग कर ही नहीं सकता। मैं ख़ुद एक बार एक क़ाफ़िले में कहीं जा रहा था और यह आदमी भी हमारे ही साथ था। अचानक बहुत सारे डकैतों ने हमारे ऊपर हमला बोल दिया था। अकेले इस ने उन सारे डकैतों को मार भगाया था। डकैतों से लड़ने के लिए इसे ढाल चाहिए थी और जब ढाल नहीं मिली तो इसने एक ऊँटनी के बच्चे को ही ढाल बना लिया था। भला इससे कौन जंग करेगा?

जब अम्र बिन अब्दवद तीन बार मुसलमानों को लड़ने के लिए बुला चुका और कोई आगे नहीं आया तो उसने आख़िर में कहा कि अब मैं थक गया हूँ। तुम्हें लड़ने के लिए पुकार-पुकार कर मेरा गला बैठ गया है लेकिन तुम्हारे बीच एक आदमी भी ऐसा नहीं है जो मेरे सामने आ सके।

जब कोई नहीं उठा तो आख़िर में अल्लाह के रसूल[स०] ने हज़रत अली[अ०] से कहा कि जाओ! अब तुम ही इससे जाकर जंग करो। हज़रत अली[अ०] अपनी जगह से उठे और उसके सामने जाकर उसी के अंदाज़ में उसे जवाब दिया। फिर जंग करके उसे ऐसा पछाड़ा था कि वह अपने आप में ख़ुद एक इतिहास है। जब हज़रत अली[अ०] उसे हराकर वापस आए तो रसूले इस्लाम[स०] ने फ़रमाया कि आज सारा इस्लाम सारे कुफ़्र को हराकर आया है यानी इस जंग ने इतिहास रच दिया है।

करबला की जंग में भी जो चीज़ हमें बहुत ज़्यादा दिखाई पड़ती है वह यही *शिआर* यानी नारे हैं। इमाम हुसैन[अ०] के नारे, इमाम हुसैन[अ०] के घर वालों और इमाम हुसैन[अ०] के साथियों के नारे इतिहास की किताबों में लिखे हुए हैं। इन नारों में भी ख़ुद इमाम हुसैन[अ०] के नारों की

चमक दूसरे सब लोगों के नारों से अलग थी। इमाम हुसैन[अ०] ने आशूरा के दिन अपने नारों से ही अपने मिशन को उजागर किया था और यह बताया था कि मैं यह जंग क्यों लड़ रहा हूँ। मैं यज़ीद की बैअत क्यों नहीं करना चाहता और मैं क्यों अपने ख़ून की आख़िरी बूँद तक इस रास्ते में बहा देना चाहता हूँ।

बड़े दुख की बात यह है कि इमाम हुसैन[अ०] के यह नारे आज हमारे बीच से उठ गए हैं और हम ने इमाम हुसैन[अ०] के उन नारों की जगह अपने बनाए हुए दूसरे नारे शुरू कर दिए हैं जिनसे इमाम हुसैन[अ०] के मिशन को समझा ही नहीं जा सकता।

इमाम हुसैन[अ०] के बाद हमारे दूसरे नौ इमाम एक के बाद एक आते रहे और हमें समझाते रहे कि इमाम हुसैन[अ०] के मिशन और करबला को अपने बीच ज़िन्दा रखो और कभी भी करबला की मुसीबतों को मत भूलो। हर इमाम ने हम से यही कहा है कि करबला एक ऐसी किताब है जो कभी बंद भी नहीं होना चाहिए। जैसे ही मोहर्रम और आशूरा आए तो शियों को चाहिए कि आशूरा को अपने बीच रचा-बसा लें। आशूरा शियों का नारा और उनकी पहचान है। अगर कोई अहले सुन्नत बल्कि इससे भी बढ़कर अगर कोई ईसाई या यहूदी या सिरे से कोई नास्तिक हम से पूछ बैठे कि तुम यह आशूरा के दिन अपने सारे काम छोड़कर इमामबाड़ों में क्यों इकट्ठा हो जाते हो, क्यों अन्जुमनें बनाकर मातम करते हो, क्यों अपना सीना पीटते हो और क्यों इतना रोते हो तो हर शिया को इतनी सी बात तो पता ही होना चाहिए इन सारे सवालों का जवाब क्या है। हमें अच्छी तरह से पता होना चाहिए कि इमाम हुसैन[अ०] और करबला के शहीदों की अज़ादारी क्यों की जाती है। करबला में इमाम हुसैन[अ०] इसलिए नहीं गए थे कि जंग

करते-करते शहीद हो जाएं और अपनी बात दुनिया वालों के सामने रख ही न सकें। ऐसा बिल्कुल नहीं है बल्कि इमाम हुसैन[अ०] को जो कुछ कहना था वह उन्होंने करबला में पूरी तरह से और बार-बार समझाकर बता दिया था। यह भी बता दिया था कि मैं यह जंग क्यों लड़ रहा हूँ और मेरा मिशन क्या है।

इसलिए हमें उन नारों और उन बातों को बहुत ध्यान से समझना होगा जो इमाम हुसैन[अ०] ने आशूरा के दिन कही थीं। इमाम हुसैन[अ०] के इन्हीं नारों से इस्लाम दोबारा ज़िन्दा हो सका है। इमाम हुसैन[अ०] की क्रांति एक ऐसी आंधी लेकर आई थी जिससे ख़िलाफ़त और उसकी सरकारी मशीनरी की चूलें हिल गई थीं। अगर इमाम हुसैन[अ०] का लाई हुई क्रांति न होती तो जहाँ अब्बासी हुकूमत पाँच सौ साल तक चली थी वहीं उमवी हुकूमत तो शायद हज़ार साल तक चलती क्योंकि वह लोग ऐसी ही स्ट्रेटजी और प्लॉनिंग व प्रोग्रामिंग लेकर आए थे। सवाल यह है कि उमवियों ने इतनी बुरी तरह से हुकूमत को क्यों जकड़ लिया था। इसका सीधा सा जवाब है कि सब चाहते थे कि हालात को वापस इस्लाम से पहले वाले हालात में बदल दिया जाए यानी फिर से सब कुछ वैसा ही हो जाए जैसा इस्लाम से पहले था लेकिन इमाम हुसैन[अ०] ने करबला में और आशूरा के दिन अपने नारों में पिरोकर ऐसी-ऐसी बातें कह दी थीं जिनसे लोगों की आँखों पर पड़े सारे पर्दे हट गए थे और दुश्मन की सारी प्लॉनिंग मलयामेट होकर रह गई थी।

आशूरा में हमें दो तरह के नारे दिखाई देते हैंः

एक वह नारे थे जो बस आदमी को पहचनवा रहे थे। इन नारों का बस इतना ही काम था।

दूसरे वह नारे थे जो आदमी को पहचनवाने के साथ-साथ मिशन को भी पहचनवा रहे थे, सोच को भी

बता रहे थे और दिल में पल रहे एहसास को भी उजागर कर रहे थे। आशूरा के दिन ऐसे नारे कुछ कम नहीं थे बल्कि बहुत ज़्यादा थे। आशूरा में हमें दोनों तरह के नारे दिखाई देते हैं लेकिन इमाम हुसैन[अ०] के नारों की अपनी एक अलग ही शान है।

इमाम हुसैन[अ०] के नारे

इमाम हुसैन[अ०] को अपने बाबा हज़रत अली[अ०] पर बड़ा नाज़ (गर्व) था लेकिन ऐसा नहीं है कि उन्हें अपने नाना पर नाज़ नहीं था। नाना अपनी जगह लेकिन अपने बाबा पर कुछ ज़्यादा ही नाज़ था। करबला में जो लोग आए हुए थे वह सब हज़रत अली[अ०] के दुश्मन थे लेकिन साथ ही साथ यह भी कहते थे कि हम अल्लाह के रसूल[स०] के मुसलमान हैं। इस बीच इमाम हुसैन[अ०] की सारी कोशिश यह थी कि उन्हें अपने बाबा अली[अ०] पर जो नाज़ था उसके बारे में अच्छी तरह से उन दुश्मनों को बता और समझा दें।

लेकिन इमाम हुसैन[अ०] ने आशूरा के दिन जो शेर पढ़े थे वह सारे शेर एक दूसरे से बहुत अलग और अपने अंदर बहुत सारी बातें समोए हुए थे। उन में से कुछ शेर ख़ुद इमाम हुसैन[अ०] के थे और कुछ दूसरों के थे जैसे फ़रवा बिन मुसैक का यह शेर था जिसे इमाम हुसैन[अ०] बार-बार पढ़ रहे थे बल्कि इमाम ने इसे अपना नारा ही बना लिया थाः

मेरे लिए कोई नीच काम करने से अच्छी मौत है।

> और कोई नीच काम करना जहन्नम[1] में जाने से ज़्यादा अच्छा है।

यानी न मैं कोई नीच काम कर सकता हूँ और न मैं जहन्नम में जाना चाहता हूँ।

अगर इस नारे का कोई नाम रखा जाए तो सब से अच्छा नाम आज़ादी का नारा, इज़्ज़त का नारा और शराफ़त का नारा होगा यानी एक सच्चे मुसलमान के लिए कोई नीच काम करने से अच्छा काम अपनी जान दे देना है। इमाम हुसैन[अ०] दुनिया को बताना चाह रहे थे कि हुसैन[अ०] अपने ख़ून की आख़िरी बूँद तक बहाने के लिए इसलिए तैयार है क्योंकि हुसैन[अ०] अपने नाना रसूले इस्लाम[स०] और अपने बाबा अली[अ०] की गोद में पला-बढ़ा है और उसने अपनी माँ फ़ातिमा ज़हरा[स०] का दूध पिया है।

इमाम हुसैन[अ०] ने आशूरा के दिन एक ख़ुतबा दिया था और यह ख़ुतबा उस वक़्त दिया था जब -दुनिया के हिसाब से देखा जाए तो- सारी उम्मीदें टूट चुकी थीं। इमाम हुसैन[अ०] के सामने अब एक ऐसा वक़्त आ गया था कि उनकी जगह कोई भी होता तो वह हार मान लेता लेकिन उन हालात में भी यह ख़ुतबा इतना ज़बरदस्त ख़ुतबा है और इतना जज़्बात से भरा हुआ है कि लगता है कि सब को जलाकर राख कर देगा। ऐसे हालात में ऐसा ख़ुतबा देना और ऐसी बातें कहना कोई आसान काम नहीं है। इमाम हुसैन[अ०] ने उस ख़ुतबे में जहाँ और बहुत सारी बातें कही थीं वहीं यह भी कहा थाः

> इस नीच बाप के नीच बेटे ने मेरे सामने बस दो रास्ते छोड़े हैंः या तो मैं शहीद होने के लिए

---

[1] नर्क

> तैयार हो जाऊँ या बैअत जैसा नीच काम कर लूँ। नहीं! मैं यह काम नहीं कर सकता क्योंकि नीच काम और नीचता हम से कोसों दूर है।

इब्ने ज़ियाद की तलवार से ख़ून टपक रहा था और उसकी आँखों को ख़ून से हटकर कुछ दिख ही नहीं रहा था। बीस साल पहले उसके बाप ने कूफ़े में वह ज़ुल्म ढाए थे और इतना ख़ून बहाया था कि जब कूफ़े वालों को पता चला कि यज़ीद ने इब्ने ज़ियाद को कूफ़े का गर्वनर बनाकर भेजा है तो कूफ़े वाले डरकर अपने-अपने घरों में दुबक गए थे। कूफ़े वाले इब्ने ज़ियाद और उसके बाप को अच्छी तरह से पहचानते थे और जानते थे कि यह दोनों कितने बड़े ख़ूँख़ार व ज़ालिम हैं। इसलिए जैसे ही इब्ने ज़ियाद कूफ़े का गर्वनर बनकर आया था वैसे ही कूफ़े वाले एक दम से हज़रत मुस्लिम बिन अक़ील[अ०] के पास से छटते चले गए थे क्योंकि उसके बाप का डर कूफ़े वालों के दिलों में बुरी तरह से बैठा हुआ था।

यह वही इब्ने ज़ियाद था जिसके आने की वजह से सारा कूफ़ा हज़रत मुस्लिम[अ०] का साथ छोड़ बैठा था और अब करबला में आशूरा के दिन इमाम हुसैन[अ०] इब्ने ज़ियाद के ही समाने कूफ़े वालों से कह रहे थेः

> इस नीच बाप के नीच बेटे ने मेरे सामने बस दो रास्ते छोड़े हैंः या तो मैं शहीद होने के लिए तैयार हो जाऊँ या बैअत जैसा नीच काम कर लूँ। नहीं! मैं यह काम नहीं कर सकता क्योंकि नीच काम और नीचता हम से कोसों दूर है।

लोगो! क्या तुम्हें पता है कि यह मुझ से क्या कह रहा है? यह कह रहा है कि ऐ हुसैन! या तो मेरे हाथों

ज़लील (नीच) हो जाओ या फिर मरने के लिए तैयार हो जाओ।

नहीं! मैं ऐसा नहीं कर सकता। अपने कमांडर से कह दो कि हुसैन[अ०] कह रहे हैं कि ज़िल्लत[1] हम से कोसों दूर है। कह दो कि हुसैन[अ०] कोई नीच काम कर ही नहीं सकता। उसे क्या लगता है कि मैं भी उसके ही जैसा हूँ? नहीं! अल्लाह ने हमें, अपने रसूल को और मोमिनों को ऐसे कामों से दूर रखा है। क्या इस नीच आदमी को यह बात नहीं पता है कि मैं किस-किस की गोद का पला हुआ हूँ? मैं अल्लाह के रसूल[स०] और अली[अ०] की गोद में पला हूँ और मैंने फ़ातिमा ज़हरा[स०] का दूध पिया है। मेरे जैसा इन्सान कभी कोई नीच काम नहीं कर सकता। ज़िल्लत और नीच काम तो हम से बहुत दूर है।

करबला में आशूरा के दिन इमाम हुसैन[अ०] के नारे इसी तरह के थे।

अब यहाँ पर हमारी मातमी अन्जुमनों के ज़िम्मेदारों को चाहिए कि वह यह समझने की कोशिश करें कि क्या हमारी अन्जुमनों के नारे इमाम हुसैन[अ०] के नारों से मेल खा रहे हैं या नहीं।

तीन दिन की भूख-प्यास

इमाम हुसैन[अ०], उनके घर वालों और उनके साथियों की प्यास कोई छोटी-मोटी बात नहीं है। ईराक़ में उस वक़्त गर्मी का मौसम था और गर्मी भी बड़ी भयानक

---

[1] नीचता

पड़ रही थी। आसमान में सूरज से आग बरस रही थी और तीन दिन से दुश्मन ने पानी भी बंद कर रखा था।

नेचर का एक क़ानून यह है कि जितना बदन से ख़ून बहता है और बदन को जितनी नए ख़ून की ज़रूरत बढ़ती जाती है उतनी ही प्यास भी बढ़ती जाती है। अल्लाह ने बदन को कुछ ऐसा ही बनाया है कि जब उसे किसी चीज़ की ज़रूरत होती है तो फ़ौरन वह ज़रूरत किसी न किसी रूप में बदन से उभरने लगती है। जो लोग ज़ख़्मी हो जाते हैं या जिन्हें ज़्यादा चोट लग जाती है उन्हें फ़ौरन प्यास लगने लगती है। ऐसा बदन से ख़ून के बह जाने की वजह से होता है। बदन को नया ख़ून चाहिए होता है और वह नया ख़ून बनाना चाहता है इसलिए फ़ौरन पानी मांगता है। बदन से ख़ून का बह जाना भी अपने आप प्यास को बढ़ा देता है।

किताबों में लिखा हुआ है कि इमाम हुसैन[अ०] की प्यास का यह हाल था कि अगर इमाम आसमान की तरफ़ देखना चाहते थे तो उन्हें अपने सर के ऊपर भी कुछ नहीं दिखाई देता था। यह थी इमाम हुसैन[अ०] की प्यास और यह कोई छोटी-मोटी बात नहीं है।

मैंने करबला के बारे में जितनी भी किताबें पढ़ी हैं उन में से मुझे किसी भी किताब में यह लिखा हुआ नहीं मिला कि इमाम हुसैन[अ०] ने कहा हो कि ''मुझे एक घूँट पानी पिला दो'' जबकि यह बात कई बार सुनने में आती है। इमाम हुसैन[अ०] ऐसे लोगों में से नहीं थे कि दुश्मनों से अपने लिए एक घूँट पानी मांगते।

इमाम हुसैन[अ०] कितने बड़े इन्सान थे इस बात को समझ पाना आसान नहीं है। यह एक अलग ही दुनिया है और हम एक अलग ही दुनिया में रहते हैं। अपने नौहों और अपने मातम में जो हम नारे देते हैं वह नारे हुसैनी नारे होना चाहिएं। नौहा और मातम बहुत अच्छी

चीज़ है। करबला के बाद हमारे दूसरे सारे इमाम शायरों, नौहा पढ़ने वालों, मसाएब पढ़ने वलों और मरसिया पढ़ने वालों को अपने यहाँ बुलाया करते थे। यह लोग इमाम हुसैन[अ०] की मुसीबत पढ़ा करते थे और अइम्मा[अ०] रोया करते थे। नौहा, मातम, मरसिया सब कुछ ठीक है और सब कुछ होना चाहिए लेकिन हमारे नारे हुसैनी नारे होना चाहिएं, न कि हमारे अपने गढ़े हुए नारे।

अगर किसी को जानना है कि हुसैनी नारे कैसे होते हैं तो उसका एक नमूना यह हैः

> क्या तुम लोग नहीं देख रहे हो कि न ही हक़ (अल्लाह के बताए रास्ते) पर कोई चलने वाला है और न ही ग़लत बातों से रोका जा रहा है। हालात ऐसे हैं कि अगर कोई मोमिन है तो उसे मौत को गले लगाकर अल्लाह के पास चले जाना चाहिए।[1]

दूसरा नमूना यह हैः

> मौत मेरे लिए कामयाबी की निशानी है और ज़ालिमों के साथ जीना मेरे लिए बड़ा थका देने वाला काम है।[2]

इमाम हुसैन[अ०] की ज़बान से निकली हुई यह बात सच में सुनहरे शब्दों में लिखी जाना चाहिए।

यह तो बस एक-दो नमूने हैं वरना इमाम हुसैन[अ०] का एक-एक नारा ऐसा था जो किसी भी मुर्दा समाज को जगाने के लिए काफ़ी है।

इमाम हुसैन[अ०] एक समाज-सुधारक थे

---

[1] बिहारूल अन्वार, 44/381
[2] बिहारूल अन्वार, 44/381

इमाम हुसैन[अ०] ने ख़ुद ही कहा है कि मैं एक समाज सुधारक हूँ और यह बात मोहम्मद बिन हनफ़िया के नाम वसिय्यत में लिखी हुई हैः

> मैं दुनिया की मोहब्बत या हुकूमत की लालच में मदीना नहीं छोड़ रहा हूँ और न ही मैं ज़ुल्म करने या बुराईयाँ फैलाने के लिए अपना घर छोड़कर निकल रहा हूँ बल्कि मैं अपने नाना की उम्मत (मुसलमानों) में आए हुए बिगाड़ को सुधारने के लिए खड़ा हुआ हूँ।[1]

मोहम्मद बिन हनफ़िया बीमार थे और ऐसे बीमार कि उनके हाथों को लक़वा हो गया जिससे उनके दोनों हाथ बेकार थे और इसी लिए वह इमाम हुसैन[अ०] के साथ नहीं जा सके थे। इमाम ने अपनी वसिय्यत लिखकर उन्हीं को दी थी क्योंकि वह घर पर ही रह गए थे। इमाम हुसैन[अ०] ने यह काम इसलिए किया था ताकि बाद में दुनिया वालों को पता चल जाए कि इमाम हुसैन[अ०] का मिशन क्या था और वह क्या करने के लिए मदीने से बाहर निकले थे। यह वसिय्यत लिखकर इमाम हुसैन[अ०] ने यह एलान कर दिया था कि मैं दुनिया के उन बहुत सारे लोगों की तरह नहीं हूँ जो हुकूमत पाने, माल-दौलत पर क़ब्ज़ा जमाने या किसी मुल्क को हथियाने के लिए क्रांति लाते हैं। आज मैं मदीने में अपनी यह वसिय्यत लिख रहा हूँ और सारी दुनिया जान ले कि मेरा मिशन अपने समाज को सुधारना है जो अल्लाह के रसूल[स०] के बताए रास्ते से भटक गया है। मैं अपने नाना के बनाए समाज में आए बिगाड़ को दूर करना चाहता हूँ। मैं अम्र बिल मारूफ़ और नही अनिल मुन्कर के रास्ते यह काम करूँगा। मेरा मिशन अपने

---

[1] मक़तलुल हुसैन/156

नाना रसूले इस्लाम[स०] और अपने बाबा हज़रत अली[अ०] की पॉलिसियों पर चलने वाला समाज बनाना है। आज इस्लामी समाज में रसूले इस्लाम[स०] और हज़रत अली[अ०] की पॉलिसियों को भुला दिया गया है, मैं उन सारी पॉलिसियों को वापस लाना चाहता हूँ।

यहीं से हमारी समझ में यह बात भी आ जाती है कि इमाम हुसैन[अ०] के बाद आने वाले दूसरे इमामों ने आशूरा और इमाम हुसैन[अ०] की अज़ादारी को संभालकर रखने पर इतना ज़ोर क्यों दिया है और क्यों इमाम हुसैन[अ०] पर रोने या उनकी अज़ादारी करने का इतना सवाब है।

क्या इमाम हुसैन[अ०] पर रोने या उनकी अज़ादारी करने का मतलब यह है कि जैसे हम अपने माँ–बाप के मरने पर रोते हैं वैसे ही इमाम हुसैन[अ०] पर भी रोएं? ऐसा नहीं है क्योंकि हमारे जैसों का मरना भी भला क्या मरना। हमारे मरने में भला किसी की क्या भलाई होगी? लेकिन इमाम हुसैन[अ०] की शहादत हमारे मरने जैसी कोई चीज़ नहीं है क्योंकि इमाम हुसैन[अ०] ने शहीद होकर और अपना ख़ून देकर इस्लाम की सूखी रगों में ख़ून दौड़ा दिया है। इसी लिए इमाम हुसैन[अ०] के बाद आने वाले सारे इमामों ने इस बात पर ज़ोर दिया है कि जितना हो सके इमाम हुसैन[अ०] पर रोओ और उनकी अज़ादारी करो क्योंकि अगर आशूरा बाक़ी है तो इमाम हुसैन[अ०] का मिशन भी बचा रहेगा। ठीक है कि आज इमाम हुसैन[अ०] हमारे बीच में नहीं हैं लेकिन फिर भी इमाम हुसैन[अ०] एक सिम्बल बनकर या किसी एनर्जी की तरह हमारे बीच में मौजूद हैं। इमामों ने इसीलिए इमाम हुसैन[अ०] की अज़ादारी करने पर इतना ज़ोर दिया था कि अगर इमाम हुसैन[अ०] हमारे बीच में न हों तब भी जब

हर साल मोहर्रम आए तो हर एक के कान में यह आवाज़ आ रही होः

> क्या तुम लोग नहीं देख रहे हो कि न ही हक़ (अल्लाह के बताए रास्ते) पर कोई चलने वाला है और न ही ग़लत बातों से रोका जा रहा है। हालात ऐसे हैं कि अगर कोई मोमिन है तो उसे मौत को गले लगाहर अल्लाह के पास चले जाना चाहिए।

अगर आशूरा और अज़ादारी बाक़ी रहेगी तभी इमाम हुसैन[अ०] का मिशन भी बाक़ी रहेगा और आगे बढ़ता रहेगा।

आशूरा

अब अगर कोई हम से पूछने लगे कि आप आशूरा के दिन इमाम हुसैन[अ०] की अज़ादारी करते हैं, उन पर रोते हैं और मातम करते हैं तो यह सब करके आप क्या करना और क्या मैसेज देना देना चाहते हैं? तो इस सवाल का बस एक ही जवाब है कि हम हर साल अपने अदंर एक नई जान फूँकना चाहते हैं और हम चाहते हैं कि क़ुरआन ने जो हुक्म हमें दिया है उसको पूरा करेंः

> ऐ ईमान वालो! अल्लाह और रसूल तुम्हें पुकारें तो उनकी बात का जवाब दो जब वह तुम्हें उस चीज़ की तरफ़ बुलाएं जिसमें तुम्हारी भलाई और तुम्हारी ज़िन्दगी है।[1]

आशूरा हमारी जान है और हमारी ज़िन्दगी है। इस दिन हम इमाम हुसैन[अ०] के रास्ते पर चलकर अपनी

---

[1] सूरए अन्फ़ाल/24

ज़िन्दगी में एक नई जान डालना चाहते हैं। अपने आप को ज़िन्दा करना चाहते हैं। दोबारा से इस्लाम को सीखना और समझना चाहते हैं। हर साल अपनी रगों में इस्लाम का ख़ून दौड़ाना चाहते हैं। हम कभी नहीं चाहते कि हमारे अंदर से अम्र बिल मारूफ़ व नही अनिल मुन्कर, शहादत, जिहाद, अल्लाह के लिए जान दे देने और अपना सब कुछ लुटा देने का एहसास मिट जाए। इसी लिए हम हर साल मोहर्रम और आशूरा में इमाम हुसैन[अ०] को याद करके और उनकी अज़ादारी करके उनके बताए रास्ते पर चलना चाहते हैं।

यह है आशूरा का फ़ाएदा। इमाम हुसैन[अ०] करबला में आशूरा के दिन हमारे गुनाहों को बख़्शवाने के लिए शहीद नहीं हुए थे कि हम गुनाह करते जाएं और करबला में बहे ख़ून के बदले में हमारे गुनाह माफ़ होते जाएं। हम जितने गुनाह चाहें करें, अल्लाह अपने प्यारे हुसैन[अ०] के बहे ख़ून की वजह से हमें माफ़ कर देगा। नहीं! ऐसा बिल्कुल नहीं है। हमारे गुनाह बस तभी माफ़ किए जा सकते हैं जब हमारी सोच इमाम हुसैन[अ०] की सोच से मिल जाए। अगर ऐसा हो गया तो फिर हमारे गुनाह बिल्कुल माफ़ हो सकते हैं लेकिन अगर हम इमाम हुसैन[अ०] की मजलिस करके बाहर आएं और फिर से गुनाहों में लग जाएं तो फिर कैसी माफ़ी? गुनाहों के माफ़ होने की बस एक निशानी है और वह यह कि हमारी रूह[1] के अंदर इमाम हुसैन[अ०] की रूह का असर आ जाए।

इमाम हुसैन[अ०] के नारों से इस्लाम दोबारा ज़िन्दा हो गया था। इमाम हुसैन[अ०] का कहना यह था कि इस्लामी हुकूमत के सरकारी ख़ज़ाने का मुँह सिर्फ़ कुछ ही लोगों

---

[1] आत्मा

के लिए क्यों खुला हुआ है? अल्लाह के हलाल को हराम और उसके हराम को हलाल क्यों बना दिया गया है? क्यों लोगों को दो हिस्सों में बांट दिया गया हैः एक वह लोग हैं जो भूख से तड़प रहे हैं और दूसरे वह हैं जो खा-खाकर मरे जा रहे हैं और इतना खा रहे हैं कि अपनी जगह से उठ भी नहीं सकते।

रास्ते में इमाम हुसैन[अ०] ने हुर के सिपाहियों के बीच एक बड़ा मशहूर ख़ुतबा दिया था जिसमें इमाम ने अल्लाह के रसूल[स०] की एक हदीस पढ़ी थी जिसमें रसूल[स०] फ़रमाते हैंः अगर एक ऐसा वक़्त आ जाए कि आज वाले हालात बन जाएं, सरकारी ख़ज़ाने को लूटा जा रहा हो, अल्लाह के हराम को हलाल और हलाल को हराम किया जा रहा हो और कोई यह सारी बातें जानने के बाद भी चुप बैठा रहे तो फिर अल्लाह को हक़ (अधिकार) है कि उस मुसलमान को भी जहन्नम में वहीं ले जाए जहाँ यह सारा बिगाड़ करने वाले उस ज़ालिम को ले जाएगा। इसके बाद इमाम हुसैन[अ०] ने कहा कि अब हालात ऐसे ही बन गए हैं जैसे अल्लाह के रसूल[स०] ने बताए थे। इन हालात में सब से पहले मेरी ही ड्युटी बनती है कि मैं आगे बढ़कर इन हालात से जंग करूँ।

यह है आशूरा और यह है आशूरा के नारों का मतलब। इसलिए अपनी मजलिसों, अपने इमामबाड़ों और अपनी अन्जुमनों में हमारे नारे भी ऐसे ही होना चाहिएं जो हमें गहरी नींद से जगाने वाले हों, न कि सुलाने वाले। हमें ज़िन्दा करने वाले हों, न कि हमें मुर्दा बनाने वाले। अगर हमारे नारे हमें मुर्दा बना रहे हैं तो इस काम से जहाँ हमें कोई सवाब नहीं मिलेगा वहीं हम इमाम हुसैन[अ०] से भी दूर होते जाएंगे। इमाम हुसैन[अ०] के नाम पर आँसू बहाना बहुत बड़ी बात है और अल्लाह के यहाँ इन आँसुओं का बहुत अच्छा बदला मिलेगा

लेकिन शर्त यह है कि पहले इमाम हुसैन[अ०] हमारे दिलों में अपनी जगह तो बना लें।

हदीस में हैः

> अल्लाह ने मोमिनों के दिलों में हुसैन[अ०] की एक छुपी हुई मोहब्बत रख दी है।[1]

अगर किसी के दिल में ईमान की आग लगी हुई है तो ऐसा हो ही नहीं सकता कि उसके दिल में इमाम हुसैन[अ०] की मोहब्बत न हो क्योंकि इमाम हुसैन[अ०] ईमान ही ईमान हैं।

इमाम हुसैन[अ०] के साथ-साथ उनके साथियों और सहाबियों के नारे भी बड़े अजीब थे। करबला और आशूरा एक ऐसी ही चीज़ का नाम है जिसे देखकर लगता है कि करबला और आशूरा को बनाने वालों ने इन्हें ऐसा ही बनाया था कि करबला से फूटने वाली किरनें कभी मद्यम पड़ने ही न पाएं।

इमाम हुसैन[अ०] के दिल की ताक़त

करबला में आशूरा के दिन इमाम हुसैन[अ०] ने अपनी जो बहादुरी और अपने दिल की जो ताक़त दिखाई थी उसने दूसरे सारे बहादुरों की बहादुरी का नाम ही मिटा दिया था और यह वह बात है जो ख़ुद दुश्मन कह रहा था। करबला में मौजूद इतिहास लिखने वाले एक इतिहासकार ने लिखा हैः

> अल्लाह की क़सम! मेरी तो कुछ समझ ही में नहीं आ रहा था कि हुसैन[अ०] के अंदर आख़िर कौन सा दिल है? उनके दिल में आख़िर कौन

---

[1] मुस्तद्रकुल वसाएल, 10/318

> सी ताक़त है? जिस आदमी के सामने उसका भरा घर उजाड़ दिया गया हो और जिसके बेटों, भाईयों और सारे साथियों को टुकड़े-टुकड़े कर दिया गया हो उसका दिल इतना मज़बूत कैसे हो सकता है? मेरे सामने तो इसका दूसरा और कोई नमूना नहीं है।

आशूरा के दिन इमाम हुसैन[अ०] ने अपने लिए एक जगह चुन ली थी यानी इमाम हुसैन[अ०] पहले उस जगह पर खड़े हो जाते थे और फिर वहीं से आगे बढ़कर दुश्मन पर हमला बोलते थे। सारे इतिहासकारों ने यह बात लिखी है कि किसी एक आदमी में भी इतनी हिम्मत नहीं थी कि आगे बढ़कर इमाम हुसैन[अ०] से अकेले जंग कर पाता। शुरू में कुछ लोग आए भी थे लेकिन उनमें से कोई एक भी नहीं बचा। जिसके बाद उमरे साद ने चीख़कर कहा कि तुम लोग यह क्या कर रहे हो? यह अली[अ०] का बेटा है। इसके अंदर अली[अ०] का ख़ून मौजें मार रहा है। तुम्हें कुछ पता भी है कि तुम किससे जंग कर रहे हो? इसके साथ एक-एक करके लड़ने की ग़ल्ती बिल्कुल मत करो। सब के सब मार दिए जाओगे। इसके बाद एक-एक करके आने और इमाम हुसैन[अ०] से जंग करने का सिलसिला वहीं रूक गया था।

फिर जो जंग शुरू हुई वह जंग नहीं थी बल्कि कायरों और भगोड़ों का हमला था। जंग क्या थी बस यूँ समझिए कि इमाम हुसैन[अ०] के ऊपर पत्थरों और भालों की बारिश हो रही थी। तीस हज़ार सिपाही एक साथ इमाम हुसैन[अ०] पर हमले कर रहे थे और चाहते थे कि बस किसी तरह से हुसैन[अ०] घोड़े से नीचे आ जाएं। तीस हज़ार सिपाही थे मगर फिर भी इमाम हुसैन[अ०] के पास आकर हमला करने की हिम्मत किसी में भी नहीं हो रही थी। सब के सब बस दूर से ही पत्थर या भाले फैंक

कर मार रहे थे। हालत यह थी कि सब ऐसे भाग रहे थे जैसे लोमड़ियाँ किसी शेर के हमले से डरकर भागती हैं लेकिन आख़िर में इमाम हुसैन[अ०] ने अपने हमले रोक लिए थे क्योंकि इमाम अपने अहलेबैत[अ०] के ख़ेमों से ज़्यादा दूर नहीं जाना चाहते थे। इमाम हुसैन[अ०] का दिल इस बात पर तैयार नहीं था कि जब तक साँस आ रही है तब तक कोई उनके ख़ेमों की तरफ़ आँख उठाकर भी देखे। हमला करते थे और जब देखते थे कि दुश्मन भागकर दूर चला गया है तो फिर वापस उसी जगह पर आ जाते थे जिसे पहले से चुन रखा था। वह जगह इतनी दूरी पर थी कि वहाँ से इमाम हुसैन[अ०] के घर वाले उनको देख तो नहीं सकते थे मगर आवाज़ ज़रूर सुन सकते थे और ऐसा इमाम ने इसलिए किया था ताकि बहन हज़रत ज़ैनब[अ०] के दिल की ढारस बंधी रहे, बेटी सकीना का दिल न घबराए और ख़ेमों में मौजूद बच्चों को यह एहसास होता रहे कि अभी इमाम ज़िन्दा हैं। जैसे ही इमाम हुसैन[अ०] हमला करके अपनी जगह पर पलटते थे तो अपनी सूखी हुई ज़बान अपने सूखे हुए होंठों पर फिराकर कहते थेः

> ला हौला व ला क़ुव्व-त इल्ला बिल्लाहिल अलिय्यिल अज़ीम।

यानी यह ताक़त हुसैन[अ०] की अपनी ताक़त नहीं है। यह अल्लाह की दी हुई ताक़त है।

बार-बार *ला हौला व ला क़ुव्व-त इल्ला बिल्लाहिल अलिय्यिल अज़ीम* पढ़कर इमाम तौहीद का नारा भी लगा रहे थे और अपनी बहन हज़रत ज़ैनब[अ०] को तसल्ली भी देते जा रहे थे कि ज़ैनब! घबराना मत! अभी हुसैन[अ०] ज़िन्दा है। इमाम हुसैन[अ०] ने पहले ही अपने सब घर वालों से कह दिया था कि जब तक मैं

ज़िन्दा हूँ कोई अपने ख़ेमे से बाहर न आए और इसी लिए सब ख़ेमों के अंदर ही थे।

इमाम हुसैन[अ०] दो बार अपने घर वालों से अलविदा कहने आए थे। पहली बार आए और सब से अलविदा कहकर चले गए। दूसरी बार यह हुआ कि इमाम फ़ुरात की तरफ़ बढ़े और पानी तक पहुँच गए। तभी किसी ने चीख़कर कहा कि देखो! हुसैन[अ०] पानी पीने आए हैं। उस आदमी ने इतना कहा ही था कि सारी फ़ौज इमाम हुसैन[अ०] के ख़ेमों की तरफ़ दौड़ पड़ी। जैसे ही इमाम ने यह सब देखा फ़ौरन वापस पलटे और सब को खदेड़ कर ख़ेमों से दूर कर दिया। फिर अपने घर वालों को एक बार फिर अलविदा कहके बड़ी ही अजीब बात कही कि मेरे बाद तुम लोगों को बंदी बना लिया जाएगा लेकिन ध्यान रखना! अल्लाह ने तुम्हारे कंधों पर एक बहुत बड़ी ज़िम्मेदारी डाली है। इसलिए तुम्हारे हाथों कोई छोटे से छोटा भी ऐसा काम न हो जाए जिससे इस ज़िम्मेदारी को पूरा करने में कोई कमी रह जाए। तुम्हारी ज़बान पर कोई भी ऐसी बात न आने पाए जिससे अल्लाह के यहाँ तुम्हारा सवाब और अच्छा बदला कम हो जाए। एक बात जान लो कि अब इसके बाद दुश्मन मिट्टी में मिलने वाला है। हम लोगों का यह काम दुश्मन को मिट्टी में मिला देगा। यह भी जान लो कि अल्लाह तुम्हें बचाने वाला है और वही तुम्हें हर बुरी चीज़ से बचाएगा।

यह कोई छोटी-मोटी बात नहीं थी। इमाम हुसैन[अ०] ने पहले ही अपने घर वालों को बता दिया था कि अब तुम लोगों के क़ैद होने और बंदी बनने का वक़्त तो आ गया है लेकिन इस काम से तुम्हारी इज़्ज़त बिल्कुल नहीं घटेगी बल्कि तुम्हारी इज़्ज़त तो और बढ़ जाएगी। यही वजह थी कि जब कूफ़ा शहर में लोग इस क़ाफ़िले के

प्यास से तड़पते हुए बच्चों को सदक़े के नाम पर कुछ देना चाहते थे तो जनाबे ज़ैनब[अ०] किसी से भी कुछ लेने को तैयार नहीं थीं। सब के सब क़ैदी थे लेकिन इस बात पर बिल्कुल तैयार नहीं थे कि सदक़े के नाम पर दूसरों का दिया हुआ ले लें।

शेर ज़ंजीरों में जकड़ा होने के बाद भी शेर ही रहता है लेकिन अगर लोमड़ी आज़ाद घूम-फिर रही हो तब भी लोमड़ी ही रहती है।

जब इमाम हुसैन[अ०] जंग के मैदान से दोबारा पलट कर आए तो अहलेबैत ख़ुश हो गए थे लेकिन इमाम को तो वापस जाना था, इसलिए फिर सब से अलविदा कहा और वापस जंग करने के लिए पलट गए। इमाम का पहले से ही हुक्म था कि कोई भी ख़ेमे से बाहर न आए, इसलिए सब ख़ेमों के अंदर ही रहे और कोई भी बाहर नहीं निकला।

थोड़ी ही देर बीती थी कि बाहर इमाम हुसैन[अ०] के घोड़े के हिनहिनाने की आवाज़ आई। सब समझे कि इमाम तीसरी बार सब से अलविदा कहने के लिए आए हैं लेकिन जैसे ही देखा तो नज़र यह आया कि इस बार इमाम हुसैन[अ०] नहीं आए हैं बल्कि बस उनका घोड़ा है जो ख़ेमों के बाहर खड़ा हुआ है। सब ने घोड़े को घेर लिया और हर एक सवाल पर सवाल पूछने लगा। किसी ने पूछा कि ऐ घोड़े! जब मेरे बाबा गए थे तो बहुत प्यासे थे। शहीद होने से पहले मेरे बाबा को पानी मिल गया था कि नहीं? क्या इन ज़ालिमों ने उन्हें प्यासा ही शहीद कर दिया या शहीद करने से पहले एक घूँट पानी भी पिला दिया था?

यही वह चीज़ है जिसने इमामे ज़माना[अ०] के दिल को छलनी कर दिया था। तभी तो हमारे ज़माने का इमाम[अ०] फ़रमाता है:

ऐ मेरे दादा! आपके घर वाले आपके हुक्म की वजह से ख़ेमों से बाहर नहीं निकले थे लेकिन जैसे ही उन्होंने देखा कि आपका घोड़ा जंग के मैदान से अकेला ही वापस आ गया है तो सब ने अपने सर के बाल खोल दिए थे और दौड़े-दौड़े उस जगह पहुँच गए थे जहाँ आपको शहीद किया गया था।

इमाम हुसैन[अ०] औरतों और बच्चों को अपने साथ क्यों ले गए थे?

हम इमाम हुसैन[अ०] और उनकी इमामत को मानने वाले लोग हैं। अगर इस हिसाब से देखें तब भी और अगर हदीसों को सामने रखकर देखें तब भी हमें यह बात मानना पड़ेगी कि पहले ही दिन से इमाम हुसैन[अ०] का एक-एक काम और एक-एक फ़ैसला पूरी तरह से सोच-समझकर और आगे आने वाले हालात को ध्यान में रखकर लिया गया था यानी इमाम हुसैन[अ०] के किसी भी एक काम के लिए हम यह नहीं कह सकते कि अचानक ऐसा हो गया था बल्कि इमाम हुसैन[अ०] ने अपना हर काम पूरे हिसाब-किताब के साथ किया था। यह बात इतिहास से भी साबित है और हदीसों के साथ-साथ हमारे अक़ीदे[1] से भी साबित है।

---

[1] आस्था

इमाम हुसैन[अ०] औरतों और बच्चों को अपने साथ क्यों ले गए थे?

इस सवाल का जवाब हदीसों ने भी दिया है और इतिहास में भी इस बारे में बात हुई है। मदीने से निकलकर इस सफ़र में जो ख़तरा आने वाला था उसके बारे में हर एक बात कर रहा था। यहाँ तक कि यह इतना सामने का ख़तरा था कि वहाँ रहने वाले आम लोग भी इस बारे में बात कर रहे थे यानी सभी लोग इस बात को समझ रहे थे कि इमाम हुसैन[अ०] को इस सफ़र में बहुत भारी ख़तरे का सामना करना होगा। इसीलिए मदीने से निकलने से पहले जितने भी लोग इमाम हुसैन[अ०] से मिलने आए थे उन सभी ने यही कहा था कि अपने साथ इन औरतों और बच्चों को लेकर जाना ठीक नहीं है। लगभग सभी लोग अपनी समझ और अपने हिसाब- किताब से यही कह रहे थे कि जब ख़ुद इमाम हुसैन[अ०] की जान ही ख़तरे में है तो फिर इन औरतों और बच्चों को लेकर जाने का तो कोई मतलब ही नहीं बनता है लेकिन इमाम हुसैन[अ०] हर एक के जवाब में बस यही कह रहे थे कि नहीं! मुझे इन सब को अपने साथ लेकर ही जाना है और इमाम उन लोगों को कुछ इस तरह से जवाब देते थे कि फिर उसके बाद कोई कुछ बोल ही नहीं पाता था। इमाम हुसैन[अ०] कह दिया करते थे कि मैंने अपने नाना को ख़्वाब में देखा है जो कह रहे थेः ''ऐ हुसैन! अल्लाह तुम्हें शहीद देखना चाहता है।''[1] इतना सुनकर वह लोग कहते थे कि फिर इन औरतों और बच्चों को क्यों लेकर जा रहे हैं तो

---

[1] बिहारूल अन्वार, 44/364

इमाम कहते थे कि मेरे नाना ने यह भी कहा हैः "अल्लाह इन सब को असीर[1] देखना चाहता है।"[2]

यहाँ पर एक सवाल यह उठता है कि "ऐ हुसैन! अल्लाह तुम्हें शहीद देखना चाहता है" और "अल्लाह इन सब को असीर देखना चाहता है" का क्या मतलब है?

असल में इमाम हुसैन[अ०] की इस बात को वहाँ मौजूद हर आदमी बड़ी अच्छी तरह से समझ रहा था। आज की तरह का मामला नहीं था कि आज हमारे बीच इस बात को एक बहुत बड़ा सवाल बना दिया गया है।

अल्लाह का इरादा जिसे मशिय्यत भी कहते हैं, दो तरह का होता हैः एक *इराद-ए-तक्वीनी* और दूसरा *इराद-ए-तशरीई*। *इराद-ए-तक्वीनी* वह होता है जिसके मुक़ाबले में कुछ भी नहीं किया जा सकता यानी अगर कोई चीज़ अल्लाह के *इराद-ए-तक्वीनी* में आ जाए तो फिर उसको बदला नहीं जा सकता। जो अल्लाह ने तय कर लिया है वह होकर रहेगा।

इराद-ए-तशरीई यानी अल्लाह इस काम से राज़ी है, अल्लाह इस तरह से चाहता है जैसे क़ुरआन में ख़ुद अल्लाह ने फ़रमाया हैः "अल्लाह तुम्हारे लिए आसानी चाहता है, मुश्किल नहीं चाहता है।"[3] या जैसे वुज़ू व तयम्मुम के बारे में फ़रमाया हैः "अल्लाह तुम्हें पाक बनाना चाहता है।"[4] *इराद-ए-तशरीई* का मतलब यह है कि अल्लाह ने यह हुक्म दिया है और वह इस तरह से चाहता है और इसी में राज़ी है।

---

[1] क़ैदी
[2] बिहारूल अन्वार, 44/364
[3] सूरए बक़रा/185
[4] सूरए माएदा/6

इमाम हुसैन[अ०] यही बात कह रहे थे कि अल्लाह मुझे शहीद देखना चाहता है और मेरे नाना ने मुझे यही बताया है कि अल्लाह की मर्ज़ी इसी में है। मेरे नाना ने यह भी कहा है कि अल्लाह इन औरतों को क़ैदी बना हुआ देखना चाहता है यानी इन औरतों के क़ैद होने में ही अल्लाह की मर्ज़ी है और अल्लाह की मर्ज़ी हमेशा वह होती है जिसमें मस्लेहत (भलाई) होती है और मस्लेहत यानी इन्सान का कमाल।

इसके बाद फिर किसी की भी कुछ कहने की हिम्मत नहीं होती थी यानी इतना सुनने के बाद हर एक यही कहता था कि अगर आपके नाना ने आपसे कहा है कि अल्लाह आपको शहीद देखना चाहता है तो ठीक है। अब इसके बाद हमें कुछ नहीं कहना है। जो लोग भी इमाम हुसैन[अ०] की ज़बान से यह बात सुन रहे थे वह यह नहीं समझ रहे थे कि जैसे इमाम कह रहे हों कि मैं क्या करूँ? तक़दीर (क़िस्मत) में ऐसा ही लिखा हुआ है और मैं ऐसा करने पर मजबूर हूँ क्योंकि क़िस्मत को तो बदला ही नहीं जा सकता। जो लिखा है वह तो होकर ही रहेगा। इमाम हुसैन[अ०] ने ऐसा कुछ कहा ही नहीं था और लोग भी ऐसा नहीं समझ रहे थे। ऐसा नहीं है कि जब लोगों ने कहा कि अपने साथ इन औरतों को लेकर मत जाइए तो इमाम ने कहा हो कि नहीं! मैं इस मामले में कुछ नहीं कर सकता क्योंकि मेरी क़िस्मत में ऐसा ही लिखा हुआ है बल्कि इसके उलट लोग यह समझ रहे थे कि इमाम हुसैन[अ०] यह कहना चाह रहे हैं कि मेरे नाना ने मुझे ख़्वाब में यह बात समझाई है कि भलाई इसी काम में है और मैं यह काम पूरी तरह से अपनी मर्ज़ी से कर रहा हूँ यानी मैं जो कुछ कर रहा हूँ पूरी तरह से सोच-समझकर कर रहा हूँ और भलाई भी इसी काम में है। इसी वजह से हम देखते हैं कि सब लोग एक

अलग तरह से सोच रहे थे और इमाम हुसैन[अ०] बिल्कुल अलग तरह से। दूसरे सब लोगों का फ़ैसला अलग था और इमाम हुसैन[अ०] का फ़ैसला अलग। वह लोग कहते थे कि ऐसे होना चाहिए लेकिन इमाम हुसैन[अ०] कहते थे कि नहीं! ऐसे नहीं बल्कि ऐसे होना चाहिए। इसका सीधा सा मतलब यही निकलता है कि इमाम हुसैन[अ०] का एक-एक काम पूरे हिसाब-किताब के साथ था और इमाम पूरी तरह से सोच-समझकर आगे बढ़ रहे थे। ऐसा नहीं था कि इमाम हुसैन[अ०] बिना कुछ सोचे-समझे औरतों और बच्चों को अपने साथ ले जा रहे थे कि अब मुझे तो शहीद होना ही है, चलो इन सब को भी ले चलते हैं।

आदमी किसी ख़तरों भरे सफ़र पर कभी भी अपने घर की औरतों और बच्चों को लेकर नहीं जाता है लेकिन इमाम हुसैन[अ०] ने यह काम किया था और पूरी तरह से सोच-समझकर किया था। इमाम हुसैन[अ०] अपने साथ औरतों और बच्चों को इसलिए लेकर गए थे क्योंकि इन्हीं लोगों को यह मिशन आगे बढ़ाना था।

इतिहास में औरतों का रोल

आगे बढ़ने से पहले हमें यहाँ रूक कर इस बात पर भी एक नज़र डालना होगी कि *इतिहास में औरतों ने क्या रोल निभाया है*? क्या औरतों ने सच में इतिहास के अंदर कोई रोल निभाया भी है या नहीं? उन्हें अपना रोल निभाना भी चाहिए या नहीं?

इस्लाम इस बारे में क्या कहता है?

औरत ने एक रोल इतिहास में बहरहाल निभाया है और आज भी निभा रही है। कोई भी इस रोल को नहीं

नकार सकता और यह इतिहास में औरत का वह रोल है जो उसने इतिहास को बनाने में *इंडायरेक्टली* निभाया है। इसीलिए कहा जाता है कि औरत आदमी को बनाती है और आदमी इतिहास को यानी जितना औरत को बनाने में आदमी का रोल है उससे कहीं बड़ा रोल आदमी को बनाने में औरत का है। क्या आदमी औरत को बनाता है, चाहे वह उसकी माँ हो या बीवी? या इसके उलट क्या औरत आदमी को बनाती है चाहे वह उसका बेटा हो या शौहर? ख़ासकर शादी के बाद, क्या शौहर अपनी बीवी पर ज़्यादा असर डालता है या बीवी अपने शौहर पर? यह जानकर अचम्भा होगा कि आज साइकॉलोजी ने यह बात साबित कर दी है कि इन दोनों में से औरत अपने शौहर पर अपना असर ज़्यादा छोड़ती है। इसी वजह से इतिहास के बनने में औरत के *इंडायरेक्ट रोल* को कोई भी नहीं नकार सकता यानी यह कि औरत मर्द को बनाती है और मर्द इतिहास को। अपने आप में यह ख़ुद एक लम्बी कहानी है जिसपर बहुत कुछ कहा जा सकता है।

क़ुरआन के हिसाब से औरत का रोल

अगर हम क़ुरआन पर एक नज़र डालें तो बड़ी आसानी से यह बात समझ में आ जाती है कि दीन का इतिहास एक ऐसा इतिहास है जिसे मर्द और औरत दोनों ने मिलकर बनाया है यानी औरत-मर्द दोनों ने अपना-अपना रोल निभाया है लेकिन ऐसा नहीं है कि दोनों ने एक-दूसरे के साथ गुड-मुड होकर यह काम किया हो बल्कि इसके उलट दोनों ने अपनी-अपनी सीमा के अंदर रहकर यह काम किया है।

यही वजह है कि जहाँ क़ुरआन ने सच्चे और अच्छे मर्दों के बारे में बात की है वहीं सच्ची और अच्छी औरतों के बारे में भी बात की है।

औरत के बारे में ईसाईयों की ग़लत सोच

ईसाईयों ने एक बहुत बुरा काम यह किया है कि दुनिया के मज़हबी (धार्मिक) इतिहास में एक बहुत ग़लत सोच ठूँस दी है। हज़रत ईसा[अ०] की बीवी न होने और ईसाईयों के धर्म-गुरूओं के शादी न करने की वजह से धीरे-धीरे एक आम सोच यह पनप गई कि औरत सिरे से एक बुरी चीज़ है यानी ख़ुद औरत का होना ही एक गुनाह व धोखा है। इन लोगों का मानना है कि औरत छोटी शैतान है। मर्द अपने आप कभी गुनाह नहीं करता है बल्कि यह औरत यानी छोटी शैतान उसे गुनाहों पर उभारती है। इसीलिए यह लोग कहते हैं कि आदम और हव्वा की कहानी शुरू ही यहाँ से हुई थी कि शैतान आदम को नहीं बहका पा रहा था। इसलिए उसने सोचा कि चलो! हव्वा को ही अपनी चाल में फंसाते हैं और वह हव्वा को धोखा देने में कामयाब हो गया जिसके बाद से अभी तक पूरे इतिहास में ऐसा ही होता आया है कि बड़ा शैतान औरत को और औरत मर्द को धोखा देती आई है। ईसाईयों के बीच आदम, हव्वा और शैतान की कहानी इसी तरह से मशहूर है लेकिन क़ुरआन ठीक इसके उलट बात करता है और यह बड़ी ही अजीब सी बात है।

क़ुरआन जब आदम-हव्वा के बारे में बात करता है तो यह नहीं कहता कि असली कैरेक्टर आदम हैं और

हव्वा उनके पीछे-पीछे चल रही हैं बल्कि क़ुरआन इस कहानी को इस तरह से शुरू करता हैः

> हम ने इन दोनों से कहा कि अब तुम जन्नत में जाकर रहो (अकेले आदम से नहीं कहा) लेकिन तुम दोनों इस पेड़ के पास मत जाना।[1]

इसके बाद क़ुरआन कहता हैः

> शैतान ने इन दोनों को भड़काया।[2]

यहाँ भी क़ुरआन ने यह नहीं कहा कि शैतान ने हव्वा को भड़काया और हव्वा ने आदम को बल्कि कहा कि दोनों को भड़काया और फिर क़ुरआन ने कहाः

फिर उन्हें धोखे से पेड़ की तरफ़ झुका दिया।[3]

आख़िर में क़ुरआन ने कहाः

> शैतान ने दोनों के सामने क़सम खाई कि मैं तुम दोनों को नसीहत करने वाला हूँ।[4]

फिर जब शैतान ने झूठी क़सम खाई तो आदम और हव्वा दोनों के सामने खाई। आदम उतने ही फिसले जितनी हव्वा और हव्वा भी उतनी ही फिसलीं जितने आदम यानी जो कुछ हुआ दोनों के साथ बराबर से हुआ।

इस्लाम ने औरत-मर्द के बारे में फैली हुई ग़लत सोच को सिरे से नकार दिया था और यह तय कर दिया था कि मामला औरत-मर्द का नहीं है कि शैतान ने औरत को बहकाया और औरत ने आदमी को बहकाया। इसलिए यह बात कहीं से कहीं तक ठीक नहीं है कि

---

[1] सूरए आराफ़/19
[2] सूरए आराफ़/20
[3] सूरए आराफ़/22
[4] सूरए आराफ़/21

औरत गुनाहों और बुराईयों को फैलाने वाली है। शायद इसीलिए क़ुरआन ने भी जहाँ पाक मर्दों के बारे में बात की है वहीं पाक औरतों के बारे में भी बात की है।

क़ुरआन में पाक औरतें

क़ुरआन ने हज़रत इब्राहीम[अ०] की बीवी *सारा* का नाम बड़ी इज़्ज़त से लिया है। क़ुरआन भी हमें यही बता रहा है कि अगर हज़रत इब्राहीम[अ०] फ़रिश्तों को देखते थे और उनकी आवाज़ें सुनते थे तो हज़रत सारा भी उनकी आवाज़ें सुनती थीं। जब फ़रिश्तों ने हज़रत इब्राहीम[अ०] से कहा कि अल्लाह आप दोनों को औलाद देना चाहता है (हज़रत इब्राहीम[अ०] और हज़रत सारा दोनों ही बूढ़े हो चुके थे) तो फ़ौरन ही हज़रत सारा ने कहाः ''क्या मैं माँ बनूँगी जबकि मैं भी बूढ़ी हो चुकी हूँ और मेरे मियाँ भी बूढ़े हो गए हैं।''[1] भला हम दोनों कैसे बच्चेदार हो सकते हैं? जैसे ही हज़रत सारा ने यह कहा तो फ़रिश्तों ने हज़रत इब्राहीम को जवाब देने के बजाए सीधे उन्हीं को जवाब दियाः ''ऐ सारा! क्या आपको अल्लाह के हुक्म पर कोई अचम्भा है?''[2]

इसी तरह क़ुरआन जब हज़रत मूसा[अ०] की बात करता है तो उनके बारे में कहता हैः ''हम ने मूसा की माँ की तरफ़ *वही* की कि अपने बच्चे को दूध पिलाओ और इसके बाद जब उसकी ज़िन्दगी को लेकर डरने लगो तो उसे दरिया में डाल देना और बिल्कुल मत

[1] सूरए हूद/72
[2] सूरए हूद/73

डरना और दुखी न होना क्योंकि हम उसे तुम्हारी तरफ़ पलटा देंगे और उसे रसूल बनाएंगे।''[1]

फिर जब क़ुरआन हज़रत मरयम[अ०] की कहानी सुनाता है तो आसानी से समझ में आ जाता है कि हज़रत मरयम[अ०] का दर्जा कितना ऊँचा था कि अल्लाह के भेजे हुए नबी भी उन्हें सलाम करते हुए दिखाई पड़ते हैं। जब हज़रत ज़करिया[अ०] जनाबे मरयम[अ०] के पास आते हैं और देखते हैं कि उनके पास अल्लाह की नेमतों का ढेर लगा हुआ है तो उन्हें बड़ा अचम्भा होता है। क़ुरआन कहता है कि मरयम[अ०] अल्लाह की इबादत कर रही थीं और अल्लाह के फ़रिश्ते उनसे बात कर रहे थेः ''जब फ़रिश्तों ने कहा कि ऐ मरयम! अल्लाह आपको अपने कलमे ''ईसा बिन मरयम'' की ख़ुशख़बरी दे रहा है।''[2]

अल्लाह के फ़रिश्ते सीधे हज़रत मरयम[अ०] से बात किया करते थे। हज़रत मरयम[अ०] नबी नहीं थीं और क़ुरआन इस बात को ठीक भी नहीं मानता है कि किसी औरत को मर्दों-औरतों के बीच में भेज दे। हज़रत मरयम[अ०] नबी नहीं थीं मगर उनका दर्जा बहुत सारे नबियों से ऊँपर था। यह बात तय है कि हज़रत मरयम[अ०] नबी न होने के बावजूद हज़रत ज़करिया[अ०] से कहीं ऊँचे दर्जे पर थीं जबकि हज़रत ज़करिया[अ०] नबी भी थे।

क़ुरआन ने हज़रत फ़ातिमा ज़हरा[अ०] के बारे में भी फ़रमाया हैः ''ऐ रसूल! हम ने आपको कौसर दिया है।''[3] *कौसर* से बड़ी कोई चीज़ नहीं है। जहाँ लोग औरतों को बुराई, धोखा और गुनाहों की चाबी समझते

---

[1] सूरए हूद/7
[2] सूरए आले इमरान/45
[3] सूरए कौसर/1

हों वहाँ क़ुरआन कह रहा है कि औरत न सिर्फ़ यह कि अच्छाई है बल्कि *कौसर* (ख़ैर) है यानी अच्छाई ही अच्छाई।

इस्लामी इतिहास में बड़ी औरतें

आइए! अब इस्लामी इतिहास में देखते हैं कि औरतों को क्या दर्जा दिया गया है। अभी इस्लाम आया ही था कि औरतों में सबसे पहले हज़रत ख़दीजा[अ०] इस्लाम ले आई थीं। हज़रत ख़दीजा[अ०] ने इस्लामी इतिहास को बनाने में बहुत बड़ा रोल निभाया है। अगर हज़रत ख़दीजा[अ०] ने अपना सब कुछ इस्लाम पर निछावर न कर दिया होता तो क्या (ज़ाहिरी हिसाब से) अल्लाह के रसूल[स०] अपना मिशन आगे बढ़ा पाते? किताब *तारीख़े इब्ने इस्हाक़* हिजरत से डेढ़ सदी के बाद लिखी गई थी। इस किताब में हज़रत ख़दीजा[अ०] की इस्लाम के नाम पर दी गई क़ुरबानियों के बारे में भी लिखा गया है जो इस तरह से हैः हज़रत ख़दीजा[अ०] के इस दुनिया से उठ जाने के बाद हज़रत अबू तालिब[अ०] भी उसी साल दुनिया से चले गए थे जिसके बाद अल्लाह के रसूल[स०] के लिए मुसीबतें बहुत बढ़ गई थीं। अपने आख़िरी वक़्त तक जब कभी भी रसूले इस्लाम[स०] हज़रत ख़दीजा[अ०] का नाम लेते थे तो उनकी आँखों में आँसू आ जाते थे।

अगर हम इस्लामी इतिहास पर एक नज़र डालें तो हम देखते हैं कि इस्लामी इतिहास मर्द-औरत से बना हुआ इतिहास है लेकिन ख़ास बात यह है कि मर्द अपनी जगह है और औरत अपनी जगह पर। दोनों की जगहें अलग-अलग हैं। अल्लाह के रसूल[स०] की मदद करने वाले मर्द भी थे और औरतें भी। हदीसें लिखने वाले मर्द

भी थे और औरतें भी। जो किताबें हज़ार साल पहले लिखी गई हैं उन में शायद सभी के नाम लिखे हुए हैं और हमारे पास ऐसी हदीसें भी हैं जिनको सुनाने वाली औरतें रही हैं। किताब *बलाग़ातुन्निसा* में वह सारे मशहूर ख़ुतबे लिखे हुए हैं जो औरतों ने दिए थे। यह किताब इब्ने तैफ़ूर बग़दादी ने लिखी थी जो लगभग 250 हिजरी में जी रहे थे यानी इमाम हसन असकरी[अ०] के ज़माने में। इस किताब में बग़दादी ने हज़रत ज़ैनब[स०] के वह ख़ुतबे भी लिखे हैं जो उन्होंने यज़ीद की मस्जिद और इब्ने ज़ियाद के दरबार में दिए थे। साथ ही वह मशहूर ख़ुतबा भी है जो जनाबे फ़ातिमा ज़हरा[स०] ने मदीने में दिया था।

क़ुम में हज़रत फ़ातिमा मासूमा[अ०] के हरम की ज़रीह पर जो हदीस लिखी गई है उसकी रावी[1] सब की सब औरतें हैं और यह हदीस रसूले इस्लाम[स०] पर जाकर ख़त्म होती है। साथ ही इन सारी औरतों का नाम फ़ातिमा है (लगभग 40 फ़ातिमा)। इसका मतलब यह है कि उस ज़माने में औरतें भी पूरी तरह से दीनी मामलों में हिस्सा लेती थीं। हदीस लिखने वाले रावी आते थे और मर्दों के साथ-साथ औरतें भी आकर हदीसें सुनती थीं लेकिन दोनों की जगहें अलग-अलग होती थीं यानी मर्द एक तरफ़ और औरतें दूसरी तरफ़। औरतें एक कमरे में होती थीं और मर्द दूसरे कमरे में। आज की तरह नहीं होता था कि कुर्सियाँ लगा दी जाती हों कि एक मर्द बैठा हुआ है और फिर उसकी बग़ल में एक औरत और एलान किया जा रहा हो कि औरतों को पढ़ने-लिखने की पूरी छूट है! जब मर्दों और औरतों को इस हालत में बिठाया जाएगा तो आदमी अपने आप

---

[1] हदीस सुनाने वाला या सुनाने वाली

समझ जाएगा कि यह सब कुछ दिखावे के लिए हो रहा है और असल में है कुछ और। इसके उलट इस्लाम कहता है कि औरतों को लिखने-पढ़ने का पूरा-पूरा हक़ (अधिकार) है लेकिन हवस, बदन की नुमाइश और आपस में हंसी-मज़ाक़ नहीं हो सकता।

इमाम अली[अ०] और हज़रत फ़ातिमा ज़हरा[अ०] शादी के बाद घर के कामों को आपस में बांटना चाहते थे लेकिन साथ ही यह भी चाहते थे कि रसूले इस्लाम[स०] इस काम में उनकी मदद करें क्योंकि जब अल्लाह के रसूल[स०] उनकी कोई मदद करते थे तो उन्हें बड़ा अच्छा लगता था। इसलिए दोनों ने कहा कि ऐ अल्लाह के रसूल! हमारा दिल चाहता है कि आप हमें यह बता दीजिए कि हम लोग घर के कामों को किस तरह से बांटें? अल्लाह के रसूल[स०] ने कहा कि घर से बाहर के काम अली[अ०] करेंगे और घर के अंदर के काम फ़ातिमा[स०]। हज़रत फ़ातिमा[स०] फ़रमाती हैं कि कोई नहीं जानता कि मेरे बाबा ने जब घर के अंदर के काम मुझे और बाहर के काम अली[अ०] को दिए तो मुझे कितना अच्छा लगा। इसीलिए अल्लाह के रसूल[स०] ने हज़रत ज़हरा[स०] को औरतों की सरदार कहकर पहचनवाया है क्योंकि जिस औरत को घर से बाहर घूमने-फिरने का शौक़ न हो वह ऐसी ही औरत होती है।

लेकिन देखने की बात है कि यही हज़रत फ़ातिमा[स०] जिनकी पूरी उम्र घर के अंदर बीती है आगे चलकर उनका इल्म[1] कैसा था? इरादा कितना मज़बूत था? ख़ुतबे कितने ज़बरदस्त देती थीं? हज़रत फ़ातिमा[स०] अपनी जवानी में ही इस दुनिया से चली गई थीं मगर इसके बाद भी उनके दुश्मन बहुत ज़्यादा थे। इसी वजह

---

[1] ज्ञान

से किताबों में हज़रत फ़ातिमा[स०] की हदीसें और ख़ुतबे बहुत कम हैं। फिर भी आपका एक ख़ुतबा बाक़ी बचा रह गया है जो बहुत लम्बा ख़ुतबा है, लगभग एक घंटे का और जब आपने यह ख़ुतबा दिया था उस वक़्त आपकी उम्र बस 18 साल की थी। इस ख़ुतबे को सिर्फ़ शियों ने ही नहीं लिखा है बल्कि अहले सुन्नत ने भी अपनी किताबों में लिखा है जैसा कि ऊपर कहा गया है कि बग़दादी ने तीसरी सदी में अपनी किताब में इस ख़ुतबे को लिख दिया था। हज़रत फ़ातिमा[स०] का यही ख़ुतबा इस बात को साबित करने के लिए काफ़ी है कि एक मुसलमान औरत घर के अंदर रहकर भी कितनी जानकार हो सकती है यानी ज़रूरी नहीं है कि वह घर से बाहर निकलकर दूसरे मर्दों की ललचाई हुई आँखों का निशाना बने तब ही उसे दुनिया भर की जानकारी मिल सकती है। इस्लाम ने समाज में औरत के आने-जाने और घुलने-मिलने की एक सीमा तय कर दी है।

हज़रत फ़ातिमा ज़हरा[स०] के इस ख़ुतबे में जो तौहीद समझाई गई है वह नहजुल बलाग़ा की तौहीद के दर्जे की तौहीद है यानी उस दर्जे की है कि फ़िलास्फ़र्स की तेज़ निगाहें भी उस तौहीद तक नहीं पहुँच सकतीं। जब हज़रत ज़हरा[स०] अपने इस ख़ुतबे में अल्लाह की ज़ात और सिफ़ात (Existence & Attributes) के बारे में बात कर रही थीं तो ऐसा लग रहा था जैसे दुनिया का कोई बहुत बड़ा फ़िलास्फ़र बात कर रहा हो। यहाँ तक कि मुस्लिम जगत के बू अली सीना (Avi Cena) जैसे बड़े फ़िलॉस्फ़र के बस की बात भी नहीं है कि ऐसा ख़ुतबा दे सके। तौहीद के बाद हज़रत फ़ातिमा ज़हरा[स०] इस्लाम के अहकाम के बारे में बात करना शुरू करती हैं तो एक-एक करके हर चीज़ के बारे में बताती हैं कि अल्लाह ने नमाज़ को इसलिए वाजिब किया है, रोज़े को

इसलिए वाजिब किया है, हज को इसलिए वाजिब किया है, अम्र बिल मारूफ़ व नही अनिल मुन्कर को इसलिए वाजिब किया है, ज़कात को इसलिए वाजिब किया है... इसके बाद हज़रत फ़ातिमा ज़हरा[स०] ने इस्लाम से पहले के अरबों के हालात के बारे में बताना शुरू किया और बताया कि किस तरह इस्लाम ने अरबों की काया पलट कर रख दी थी और उनकी इज़्ज़त में चार चाँद लगा दिए थे। हज़रत फ़ातिमा ज़हरा[स०] ने इस ख़ुतबे में एक-एक करके समझाया है कि तुम लोग ऐसे थे-ऐसे थे मगर जब अल्लाह के रसूल[स०] आए तो उन्होंने तुम्हारी ज़िन्दगियों को ही बदल कर रख दिया था। हज़रत फ़ातिमा ज़हरा[स०] हज़ारों लोगों के बीच यह ख़ुतबा दे रही थीं और यह सारी बातें कर रही थीं लेकिन (अल्लाह माफ़ करे) दिखावा करने के लिए मिम्बर पर जाकर ख़ुतबा नहीं दिया था। अल्लाह के रसूल[स०] का तरीक़ा यह था कि मर्द अलग बैठते थे और औरतें अलग और दोनों के बीच में एक ऊँचा पर्दा पड़ा होता था। हज़रत फ़ातिमा ज़हरा[स०] ने यहाँ भी पर्दे के पीछे से ही अपनी सारी बातें कही थीं और जितने भी मर्द-औरत वहाँ मौजूद थे सबके दिलों को झिझोंड़ कर रख दिया था। यह वही चीज़ है जिसके बारे में अभी हम ऊपर बात कर रहे थे कि इस्लाम ऐसी औरत को पसंद करता है जिसकी अपनी एक पर्सनालिटी भी हो और जिसके पास इज़्ज़त व पाकीज़गी भी हो यानी कभी भी अपने आप को मर्दों की भूखी व लालची आँखों का निशाना न बनने दे। साथ ही ऐसा भी न हो कि उसे दुनिया-जहान का कुछ पता ही न हो और अपने आसपास की कुछ ख़बर ही न हो।

करबला भी एक ऐसा ही इतिहास है जिसे मर्दों और औरतों दोनों ने मिलकर रचा है यानी इस इतिहास

में मर्द और औरत दोनों ने अपना-अपना रोल निभाया है लेकिन मर्दों ने अपनी जगह रहकर और औरतों ने अपनी जगह रहकर। यही इस्लाम का मोजिज़ा (Miracle) है। अब चाहे आज की दुनिया इस इस्लामी क़ानून और इस इस्लामी कल्चर को अपना ले और चाहे तो न अपनाए। इस बात से कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता लेकिन आगे आने वाला ज़माना इस कल्चर को ज़रूर अपनाएगा।

इमाम हुसैन[अ०] ने अपने घर की औरतों और बच्चों को इसीलिए अपने साथ लिया था क्योंकि इमाम चाहते थे कि करबला में रचे जाने वाले इस महान इतिहास में यह लोग भी अपनी-अपनी इस्लामी ड्युटी पूरी कर सकें और सब के सब जनाबे ज़ैनब[अ०] के झंडे तले इस इतिहास में अपना सीधा रोल निभा सकें और वह भी अपनी सीमाओं से बाहर निकले बिना।

आशूरा के बाद जनाबे ज़ैनब[स०] का कमाल

आशूरा का सूरज ढलते ही जनाबे ज़ैनब[स०] का कमाल शुरू हो गया था। यही वह वक़्त था जब सारे काम और सारी ज़िम्मेदारियाँ जनाबे ज़ैनब[स०] के कंधों पर आ गई थीं। अब हुसैनी मिशन को आगे बढ़ाने वाली जनाबे ज़ैनब[स०] ही थीं। अब वही इस काफ़िले की सरदार थीं। इस पूरे काफ़िले में अकेले मर्द इमाम सज्जाद[अ०] थे और वह भी बीमार थे। अपनी बीमारी की वजह से ख़ुद इमाम सज्जाद[अ०] को भी एक सहारा चाहिए था मगर दुश्मन से यह भी नहीं देखा जा रहा था। इब्ने ज़ियाद का कड़ा आर्डर था कि हुसैन[अ०] के साथ आने वाले मर्दों में से एक मर्द भी न बचे इसलिए कई बार इमाम

सज्जाद[अ०] को जान से मारने की कोशिश भी की गई थी लेकिन फिर ख़ुद ही वह लोग यह कहकर पीछे हट गए थे कि यह आदमी तो अपने आप ही मरा जा रहा है, भला इसके ख़ून से अपने हाथ क्यों रंगीन क्यों जाएं?।[1] अल्लाह ही बचाने वाला है और यहाँ भी उसने इमाम सज्जाद[अ०] को इस तरह से बचा लिया था ताकि इमाम हुसैन[अ०] की नस्ल बची रह सके। इस बीच जनाबे ज़ैनब[स०] का एक काम इमाम सज्जाद[अ०] की देख-भाल करना भी था।

ग्यारह मोहर्रम की सुबह में ही दुश्मन बहुत सारे ऊँट लेकर आ गए थे जिन पर अहले हरम[अ०] को बिठाया जाना था और ऊँट भी ऐसे थे जिनके ऊपर लकड़ी के पालान रखे हुए थे। साथ ही क़ैदियों से यह भी कह दिया गया था कि इन पालानों पर कोई कपड़ा बिल्कुल न रखा जाए ताकि बैठने वालों को ख़ूब तकलीफ़ हो। इस बीच अहले हरम ने भी एक बात कही जिसे मान लिया गया और वह बात यह थीः ''तुम लोगों को अल्लाह का वास्ता! अब जब तुम हमें लेकर ही जा रहे हो तो उस रास्ते से लेकर चलना जिधर मक़तल है, जहाँ हमारे प्यारों को शहीद किया गया है ताकि हम आख़िरी बार अपने प्यारों को ख़ुदा हाफ़िज़ कह लें।'' इन क़ैदियों में बस इमाम सज्जाद[अ०] ही एक ऐसे थे जिनके दोनों पैर ऊँट से बंधे हुए थे क्योंकि वह बीमार थे, बाक़ी सब के पैर खुले हुए थे। जैसे ही सब मक़तल के पास पहुँचे वैसे ही सब ने अपने आप को ऊँटों से नीचे गिरा दिया था। जनाबे ज़ैनब[स०] सीधी अपने भाई इमाम हुसैन[अ०] की लाश पर पहुँची और अपने भाई को पहली बार ऐसी हालत में देखा कि उससे

---

[1] बिहारूल अन्वार, 45/61

पहले कभी नहीं देखा था। जनाबे ज़ैनब[स०] के सामने इमाम हुसैन[स०] की लाश तो थी लेकिन उस पर सर नहीं था और न ही कफ़न। जनाबे ज़ैनब[स०] ने जो यह हाल देखा तो बेहाल हो गईं और बिलक-बिलक कर अपने भाई से बातें करने लगीं और कुछ इतने दुख भरे अंदाज़ से गिरया किया कि सामने खड़े हुए दुश्मन के सिपाहियों की आँखों से भी आँसू बहने लगे।

इमाम हुसैन[अ०] की मजलिस की बुनियाद सब से पहले जनाबे ज़ैनब[अ०] ने ही डाली थी लेकिन इन सारे हालात के बाद भी अली[अ०] की बेटी को अपनी हर ज़िम्मेदारी का पूरा-पूरा ध्यान था। इमाम सज्जाद[अ०] का ध्यान रखना भी जनाबे ज़ैनब[अ०] का ही काम था इसलिए फ़ौरन ध्यान उनकी तरफ़ गया। देखा कि इन हालात को देखकर इमाम सज्जाद[अ०] इतने दुखी हैं जैसे बस किसी भी पल रूह[1] बदन से निकल जाएगी। जनाबे ज़ैनब[स०] फ़ौरन इमाम हुसैन[अ०] के बदन को छोड़कर अपने भतीजे इमाम सज्जाद[अ०] के पास पहुँचीं और बोलीं कि ऐ मेरे भतीजे! तुम्हारा यह क्या हाल है? ऐसा लग रहा है जैसे किसी भी पल तुम्हारी रूह तुम्हारे बदन से निकल जाएगी। इमाम सज्जाद[अ०] ने कहा कि ऐ फुफी अम्मा! अपने प्यारों की इन लाशों को देखकर मेरा यह हाल हो रहा है। क्या करूँ? कैसे दुखी न होऊँ? बहरहाल जनाबे ज़ैनब[अ०] ने किसी तरह से अपने भतीजे को तसल्ली दी और समझा-बुझाकर सहारा दिया।

अहले हरम[अ०] का यह काफ़िला आगे बढ़ गया और उमरे साद अपने साथियों की नजिस लाशों को दफ़नाने के लिए वहीं करबला में ठहर गया। सब को दफ़्न कर दिया गया था लेकिन अभी भी इमाम हुसैन[अ०] और उनके

---

[1] आत्मा

बेटों, भाईयों-भतीजों और साथियों की लाशें वैसे ही रह गई थीं। उन्हें दफ़्न करने वाला कोई नहीं था। ग्यारह मोहर्रम को यह काफ़िला करबला से कूफ़े के लिए चला था और बारह मोहर्रम को कूफ़े पहुँच गया था। उन लोगों ने प्रोग्राम कुछ ऐसे ही बनाया था कि यह काफ़िला ग्यारह मोहर्रम को चलकर बारह मोहर्रम को कूफ़े पहुँच जाए और उसी दिन दोपहर तक ढोल-ताशे व बेंड-बाजे के साथ काफ़िले को शहर के अंदर ले जाया जाए। ऐसा करके दुश्मन अपनी जीत का एलान करना चाहता था और अपनी सोच में रसूल[स०] के घराने पर आख़िरी हमला बोलना चाहता था।

12 मोहर्रम को इस काफ़िले को कूफ़े के अंदर ले जाया जाने लगा था जबकि शायद जनाबे ज़ैनब[अ०] नौ मोहर्रम से लेकर अभी तक सो भी नहीं पाई थीं। दुश्मन शहीदों के सरों को पहले ही ले गए थे। दिन निकलने के लगभग दो घंटे बाद क़ैदियों को कूफ़े के अंदर ले जाया गया और हुक्म दिया गया कि शहीदों के सर भी ले आओ ताकि सब को एक साथ लेकर चला जाए। बड़े ही अजीब हालात थे जिन्हें बताया भी नहीं जा सकता। कूफ़ा शहर का दरवाज़ा है और यहाँ अली[अ०] व फ़ातिमा[स०] की बेटी ज़ैनब[स०] अपना कमाल दिखा रही है। जनाबे ज़ैनब[अ०] ने जहाँ अपने औरत होने को बचाकर रखा वहीं बड़े ज़बरदस्त ख़ुतबे भी दिए। इतिहासकारों ने लिखा हैः कूफ़े में हर तरफ़ शोर मचा हुआ था, हर जगह भीड़ इकट्ठा थी, कान पड़ी आवाज़ भी नहीं सुनाई पड़ रही थी, ढोल-ताशे बज रहे थे और बड़ा अजीब सा हंगामा था। इस बीच जनाबे ज़ैनब[अ०] ने एक इशारा किया और सारा शोर-हंगामा अचानक थम गया, सवारियाँ अपनी जगह ठहर गईं और सन्नाटा छा गया। इसके बाद जनाबे ज़ैनब[अ०] ने एक ख़ुतबा दिया और

ख़ुतबा भी ऐसा कि लिखने वालों ने लिखा है कि जनाबे ज़ैनब[अ०] ने अपनी पूरी ख़ानदानी शराफ़त और पाकीज़गी के साथ ख़ुतबा दिया था। तभी तो दुश्मन को कहना पड़ गया कि ज़ैनब[अ०] के ख़ुतबे से शराफ़त टपक रही थी और ऐसी शराफ़त के इसी शराफ़त में अली[अ०] की शुजाअत (बहादुरी) का रंग भी भरपूर झलक रहा था।

यह वही कूफ़ा था जहाँ बीस साल पहले हज़रत अली[अ०] मुसलमानों के ख़लीफ़ा थे और जहाँ आपने लगभग पाँच साल हुकूमत की थी। उस पाँच साल की हुकूमत में ख़ुतबे भी बहुत सारे दिए थे और आज भी कूफ़े वालों के बीच में हज़रत अली[अ०] के ख़ुतबे गूँज रहे थे। लिखने वालों ने लिखा हैः

> ज़ैनब[स०] ने ऐसा ख़ुतबा दिया था कि जैसे अली[अ०] वापस आ गए हों और उनकी बातें ज़ैनब[स०] की ज़बान से निकल रही हों। वैसे ज़ैनब[स०] ने कोई बहुत लम्बा-चौड़ा ख़ुतबा नहीं दिया था। बस दस-बारह लाइन का ख़ुतबा देकर अपनी बात समेट दी थी लेकिन मैंने देखा कि लोग भौंचक्के होकर दाँतों तले अपनी उंगलियाँ दबाए हुए थे।

यह है इस्लाम में औरत की जगह और इस्लाम औरत को इसी रूप में देखना चाहता है। इस्लाम औरत को उस रूप में देखना चाहता है कि वह पूरी तरह से शर्म, हया और पाकीज़गी के साँचे में ढली हुई हो। करबला का इतिहास भी इसीलिए मर्द-औरत से मिलकर बना है क्योंकि उसमें मर्दों और औरतों दोनों ने अपना-अपना भरपूर रोल निभाया है लेकिन दोनों की जगह अलग-अलग है। यह इतिहास इन दोनों के हाथों से मिलकर बना है।